इनकारे-हदीस
की
हक़ीक़त

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०)

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

'अल्लाह के नाम से जो बड़ा मेहरबान बहुत रहमवाला है।'

दो शब्द

इनकारे-हदीस से मुराद हदीस के इनकार का फ़ितना है। जिसकी तरफ़ नबी (सल्ल॰) इन अलफ़ाज़ में इशारा फ़रमा गए हैं–

"मेरे बाद एक शख़्स पैदा होगा जो गाव-तकिया लगाकर बैठा होगा और यह कहेगा कि क़ुरआन को मज़बूती से पकड़ लो और जो इसमें हलाल है उसे हलाल समझो और जो इसमें हराम है उसे हराम क़रार दो।" (हदीस : तिरमिज़ी किताबुल-इल्म : 2663)

पस इसका मक़सद यह होगा कि वह लोगों को यक़ीन दिलाना चाहेगा कि क़ुरआन के अलावा तुम्हें किसी और चीज़ की तरफ़ देखने की ज़रूरत नहीं है। जबकि अल्लाह ने क़ुरआन में फ़रमाया है–

"जो कुछ रसूल तुम्हें दें उसे ले लो और जिस चीज़ से रोके उससे रुक जाओ।" (क़ुरआन, सूरा-59 हश्र, आयत-7)

नबी (सल्ल॰) ने फ़रमाया–

"जिस चीज़ को अल्लाह के रसूल ने हराम क़रार दिया है तो वह भी वैसे ही हराम है जैसे अल्लाह ने क़ुरआन में हराम क़रार दिया है।" (हदीस : तिरमिज़ी-2664; इब्ने-माजा-121)

इस आयत और हदीस से मालूम हुआ कि इस्लाम के बुनियादी मसादिर दो हैं, क़ुरआन और सुन्नते-रसूल (सल्ल॰), तो जिन लोगों ने सुन्नते- रसूल को दीन का बुनियादी माख़ज़ और स्रोत मानने से इनकार कर दिया, वे मुनकिरीने-हदीस कहलाए और इनका यह रवैया इनकारे-हदीस कहलाता है। पस इस उम्मत में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने मुकम्मल तौर से हदीस का इनकार कर दिया।

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०) ने इनकारे-हदीस के इस फ़ितने को ख़त्म करने के लिए अपना क़लम उठाया। इस सिलसिले में उन्होंने कई लेख और किताबें लिखीं।

यह किताब मौलाना मौदूदी (रह०) के एक लेख पर आधारित है। यह लेख उर्दू माहनामा तरजुमानुल-क़ुरआन, जून 1934 ई० के अंक में प्रकाशित हुआ और बाद में मौलाना के लेखों के संग्रह "तफ़हीमात" हिस्सा-1 में शामिल किया गया। इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली) ने उसी लेख को हिन्दी ज़बान में तर्जमा कराकर तैयार किया।

यह किताब उन लोगों के लिए बहुत मुफ़ीद होगी जो हदीसों के सिलसिले में उलझनों का शिकार हैं या हदीस का इनकार करनेवालों से प्रभावित हैं।

अल्लाह से दुआ है कि वह हमें क़ुरआन और हदीस पर चलने की तौफ़ीक़ दे और हमें इनकारे-हदीस के फ़ितने से महफ़ूज़ रखे।

–नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
सेक्रेट्री
इस्लामी साहित्य ट्रस्ट
(दिल्ली)

इनकारे-हदीस की हक़ीक़त

एक साहब ने एक छोटी-सी किताब लिखी है, जिसका उनवान (शीर्षक) है, "मैं हदीस का मुनकिर क्यों हुआ[1]।" लेखक ने अपना नाम ज़ाहिर नहीं किया, बल्कि अपने लिए 'हक़गो' (सत्य बोलनेवाला) का लक़ब इख़्तियार किया है। इन्हीं साहब का एक तफ़्सीली मज़मून 'मुताला-ए-हदीस (हदीस का अध्ययन) के उनवान (शीर्षक) से कुछ रसाइल (पत्रिकाओं) में शाए (प्रकाशित) होता रहा है। जिसके कुछ हिस्से हमारी नज़र से गुज़रे हैं। दलीलें क़रीब-क़रीब वही हैं जो हदीस के इनकारियों की तरफ़ से पेश की जाती हैं। उन सबका ख़ुलासा (सारांश) यह है कि हमारे लिए सिर्फ़ क़ुरआन काफ़ी है। हदीस की रिवायतें भरोसे के क़ाबिल नहीं हैं। और उनपर मज़हब (धर्म) की बुनियाद रखना ठीक नहीं है। 'हक़गो' साहब और उनकी जैसी राय रखनेवाले हदीस के इनकारियों के ख़याल में हदीस से इस्लाम को ज़र्रा बराबर भी फ़ायदा नहीं पहुँचता, बल्कि इसके बरख़िलाफ़ इसी चीज़ ने इस्लाम के दुश्मनों को वे हथियार मुहैया किए हैं, जिनसे वे लोग इस्लाम पर हमले करते हैं। इसलिए उनकी ख़ाहिश है कि इस्लाम से हदीस को बिलकुल निकाल दिया जाए, और इसको वे लोग इस्लाम की बड़ी ख़िदमत समझते हैं।

'हक़गो' साहब ने अपनी राय के हक़ में हदीस की किताबों से बहुत-सी गवाहियाँ (साक्ष्य) पेश की हैं जिनसे वे साबित करना चाहते हैं कि हदीसों से किस तरह दुश्मनों को इस्लाम और ख़ुदा के पैग़म्बर की पैग़म्बरी पर हमला करने के लिए सामान मिल जाता है। मिसाल के तौर पर कुछ हदीसें क़ुरआन

1. प्रकाशक—दफ़्तर उम्मते-मुस्लिमा, अमृतसर

को बदल डालने का सुबूत (प्रमाण) मुहैया करती हैं। कुछ इस इलज़ाम की हिमायत और ताईद करती हैं कि वह्य का उतरना एक ढोंग था, अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) जो कुछ किताबवालों से सुनते थे उसको वह्य (प्रकाशना) बनाकर पेश कर देते थे। (ख़ुदा की पनाह!) कुछ से पता चलता है कि वह्य का उतरना अल्लाह के पैग़म्बर की दिली ख़ाहिशात के मुताबिक़ होता था। कुछ इस बात की गवाही देती हैं कि ख़ुदा के पैग़म्बर पर जादू का असर हो जाता था। कुछ से मालूम होता है कि ख़ुदा के पैग़म्बर अपने मुख़ालिफ़ों को ख़ुफ़िया तरीक़ों से क़त्ल करा देते थे (कअब-बिन-अशरफ़ का वाक़िआ)। कुछ से अल्लाह के रसूल पर ज़ुल्म और बेरहमी का इलज़ाम लागू होता है (उकल और उरैनावालों का क़त्ल)। कुछ से ख़ुदा के पैग़म्बर पर नफ़्सपरस्ती का इलज़ाम लगता है। इसी सिलसिले में लेखक ने नबी (सल्ल॰) पर शारदा एक्ट भी लागू किया है और उन सभी रिवायतों को भरोसे के क़ाबिल नहीं माना है जिनसे मोमिनों की माँ हज़रत आइशा (रज़ि॰) से नौ साल की उम्र में शादी होना साबित होता है। इसके बाद लेखक इल्मे-हदीस (हदीस-ज्ञान) पर बहुत-से एतिराज़ करता है। उसके ख़याल में हदीस की तबाअत और छपाई ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन के वक़्त में मना थी। बनू-उमैया और आले-अब्बास (रज़ि॰) के ज़माने में रिवायत का सिलसिला शुरू हुआ और बाद में बादशाहों के सियासी मक़ासिद के लिए हदीसें गढ़ी गईं। इमाम हसन बसरी, इमाम ज़ुहरी, इमाम मालिक, हदीस की छः किताबों (सिहाह-सित्ता) के लेखकों और दूसरे वे लोग जिन्होंने हदीस की किताबें जमा की हैं, सब-के-सब लेखक के गुमान में झूठी हदीसें गढ़नेवाले थे और उन लोगों ने बिना सिर-पैर की रिवायतें जमा करके इस्लाम को बिगाड़कर रख दिया है। बहुत-से सियासी फ़ायदों के अलावा हदीस में यहूदियत, ईसाइयत, मजूसियत और दूसरे मज़हबों (धर्मों) के अक़ीदे और ख़ुराफ़ात भी दाख़िल हो गए। पाँच वक़्त की नमाज़, तीन दिन के रोज़े, पुलसिरात और मीज़ान (तुला) का ख़याल, ज़बीहा के हुक्म, खाने-पीने की चीज़ों में मज़हब का दख़ल, ख़त्ना, क़ुरबानी, पाकी-सफ़ाई, (तहारत) के हुक्म, तस्वीरों और बुतों का हराम होना, मेराज के क़िस्से और ऐसी ही बहुत-सी चीज़ें लेखक के नज़दीक हदीसें जमा

करनेवालों ने दूसरे मज़हबों से लीं और अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) की तरफ़ मंसूब करके इस्लाम में दाख़िल कर दीं।

फ़िक़्ह के इमाम भी लेखक के नज़दीक मलामत के क़ाबिल हैं, क्योंकि उन्होंने शरीअत का ख़याल यहूदियों से लेकर इस्लाम के सिर चिपका दिया, ज़िन्दगी के तमाम मामलों पर मज़हब को हावी कर दिया, जो क़ानून इराक़ की आबो-हवा और पहली-दूसरी सदी (शताब्दी) के हालात की बुनियाद पर गढ़ गए थे उनको अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) से जोड़ करके मज़हबी क़ानून बना डाला और इस तरह इस्लाम 'क़ौमी शरीअत'' का पाबन्द होकर इस क़ाबिल न रहा कि दुनिया में उसकी इशाअत (प्रकाशन) होती और दूसरी क़ौमें उसकी तामील कर सकतीं। लेखक के नज़दीक सेन्टपॉल और उसकी पैरवी करनेवालों का यह ख़याल बिलकुल ठीक था कि मज़हब (यानी ईमानियात) को शरीअत (यानी जीवन-विधान) से अलग कर दिया जाए, और यही चीज़ दुनिया में ईसाइयत के फैलने का सबब हुई। खुद प्यारे नबी (सल्ल॰) को भी लेखक के ख़याल में इसलिए भेजा गया था कि शरीअत की बेड़ियों को काट दें और ज़िन्दगी के मामलों को मज़हब की पाबन्दियों से आज़ाद कर दें। दलील में यह आयत पेश की गई है—

"और उनपर से वह बोझ उतारता है, जो उनपर लदे हुए थे।"

(क़ुरआन, सूरा-7 आराफ़, आयत-157)

इस आयत के अरबी मतन में अग़लाल (बेड़ियों) से मुराद लेखक के नज़दीक 'शरीअत की बेड़ियाँ' हैं और वह कहता है कि फ़िक़्ह के इमामों और हदीस के इमामों ने अल्लाह के पैग़म्बर के ख़िलाफ़ बग़ावत करके फिर उन्हीं शरीअत की बेड़ियों को मुसलमानों पर डाल दिया, जिन्हें काटने के लिए अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) भेजे गए थे। और यहूदियों की पैरवी में उन लोगों ने हदीस की रिवायत और 'शरीअतसाज़ी' (क़ानून बनाना) शुरू कर दी। यह सब कुछ लेखक की राय में इसलिए किया गया कि यहूदी फ़रीसियों की तरह ये लोग मुसलमानों पर अपनी पकड़ बनाना चाहते थे, और इस मक़सद के लिए उन्होंने नबी (सल्ल॰) के नाम से नाजाइज़ फ़ायदा उठाया।

फिर मज़े की बात यह है कि लेखक अपने सारे नज़रियों की बुनियाद तारीख़ी दलीलों पर रखता है, जबकि हदीस की रिवायतें भरोसा करने के क़ाबिल नहीं हैं तो तारीख़ उनसे भी ज़्यादा भरोसा करने के क़ाबिल नहीं है। हदीस में तो हमारे ज़माने से लेकर अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) या सहाबा (रज़ि॰) या मशहूर इमामों तक दलीलों का पूरा सिलसिला मौजूद है, चाहे वह आपके नज़दीक शक के क़ाबिल ही क्यों न हो। लेकिन इतिहास के पास तो कोई सनद ही नहीं है। जिन पुरानी किताबों को आप इतिहास का सबसे ज़्यादा भरोसेमन्द भंडार समझते हैं, उनके बारे में तो आपके पास इस बात का कोई सुबूत मौजूद नहीं कि जिन लेखकों की तरफ़ वे मंसूब हैं, उन्हीं की लिखी हुई हैं। इसी तरह जो हालात उन किताबों में लिखे हुए हैं उनके लिए भी आप कोई ऐसी सनद व दलील नहीं रखते जिसकी बुनियाद पर उनके सही होने का यक़ीन किया जा सके। फिर अगर हदीस की मुसलसल और भरोसेमन्द रिवायतों को इस आसानी के साथ झुठलाया जा सकता है तो इतिहास के पूरे भंडार को इससे भी ज़्यादा आसानी के साथ रद्द किया जा सकता है। एक आदमी बेझिझक कह सकता है कि अब्बासियों का वुजूद दुनिया में कहीं न था। उमवी सल्तनत कभी क़ायम नहीं हुई। सिकन्दर का वुजूद सिर्फ़ एक अफ़साना है। सच बात यह है कि इतिहास की हर घटना को इस दलील से कहीं बहुत ज़्यादा मज़बूत दलीलों की बुनियाद पर झुठलाया जा सकता है जिसकी बुनियाद पर आप हदीस को झुठलाते हैं। क्योंकि दुनिया में बीते ज़माने के हालात का कोई भंडार इतना भरोसेमन्द नहीं है जितना हदीस का भंडार है, और जब वह भी भरोसा करने के क़ाबिल नहीं है तो पुराने ज़माने के बारे में जितनी रिवायतें (कथन) हम तक पहुँची हैं वे सब समुद्र में डुबो देने के क़ाबिल हैं। बड़ी हैरत की बात है कि जो आदमी हदीस की रिवायतों का इनकार करता हो, और जिसके नज़दीक यह मुमकिन हो कि अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) से क़रीब-तर ज़माने में ऐसे-ऐसे नामवर मुसलमान भी, जिनसे ज़्यादा नुमायाँ हस्तियाँ मुसलमानों की क़ौम में पेश नहीं की जा सकतीं, इस्लाम का दावा रखने के बावजूद अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) पर बुहतान (झूठा आरोप) गढ़ सकते थे और अपने दिल से हदीसें

गढ़ करके पैग़म्बर (सल्ल०) की तरफ़ मंसूब कर सकते थे, वह आख़िर इतिहास पर कैसे भरोसा कर लेता है, वह क्यों नहीं कहता कि तबरी, इब्ने-कसीर, इब्ने-ख़लदून और इतिहास की सारी किताबें गढ़ी हुई हैं, झूठे क़िस्से हैं और गुज़रे हुए ज़माने का कोई हाल हम तक मज़बूत दलीलों के साथ नहीं पहुँचा है, इससे ज़्यादा ज़ुल्म और मज़ाक़ यह है कि जो आदमी बुख़ारी, मुस्लिम, तिरमिज़ी, अबू-दाऊद यहाँ तक कि इमाम मालिक, इमाम अबू-हनीफ़ा, इमाम शाफ़ई और इमाम हसन बसरी (रह०) तक को भरोसा करने के क़ाबिल नहीं समझता है वह फ़ोनक्रेमर से सनद और सुबूत लाने में नहीं झिझकता। इससे मालूम होता है कि बात की पच और हठधर्मी आदमी को कहाँ-से-कहाँ ले जाती है।

'हक़गो' साहब की किताब अगर कोई नावाक़िफ़ मुसलमान या ग़ैर-मुस्लिम पढ़े तो उसके दिल पर यह बात बैठ जाएगी कि ख़ुदा के पैग़म्बर की वफ़ात (देहान्त) पर पचास साल भी न बीते थे कि मुसलमानों ने ख़ुदा के पैग़म्बर और इस्लाम के ख़िलाफ़ आम बग़ावत कर दी और वही लोग उस बग़ावत के सरग़ना बने जो इस्लाम के मज़हबी (धार्मिक) इतिहास में सबसे ज़्यादा नुमायाँ हैं और जिन्हें इस्लामी मज़हब का सुतून (स्तम्भ) समझा जाता है। उन लोगों के दिलों में ईमान की परछाई तक भी न थी। उन्होंने अपने फ़ायदों के लिए हदीस, फ़िक़्ह सुन्नत और इस्लामी शरीअत के शानदार शब्द गढ़े और दुनिया को धोखा देने के लिए वे बातें नबी (सल्ल०) की तरफ़ मंसूब कीं जो आप (सल्ल०) और क़ुरआन की तालीम के बिलकुल ख़िलाफ़ थीं। यह असर पड़ने के बाद हमें उम्मीद नहीं कि कोई आदमी इस्लाम की सच्चाई का क़ायल होगा, क्योंकि जिस मज़हब के इमामों और उसके सबसे आला और बुलन्द दाइयों (आवाहकों) का यह हाल हो उसके माननेवालों में सिर्फ़ 'हक़गो' साहब और उनके अनुयायी गिनती के कुछ आदमियों को देखकर कौन अक़्लमन्द यह यक़ीन करेगा कि ऐसा मज़हब भी कोई सच्चा मज़हब हो सकता है। यही नहीं, बल्कि इस तरह के एतिराज़ों को देखकर तो एक आदमी इस बात में भी शक कर सकता है कि इस्लाम अपनी अस्ल शक्ल में इस वक़्त महफ़ूज़ है भी या नहीं; क्योंकि जब मुसलमानों के पूर्वजों

में पहली सदी से लेकर अब तक कोई गरोह भी ऐसा मौजूद नहीं रहा जो अपने पैग़म्बर के हालात, बातों और शिक्षाओं को ठीक-ठीक महफ़ूज़ रखता और जब इस क़ौम के छोटे-बड़े सब-के-सब ऐसे बद्दियानत थे कि जो कुछ जी में आता था गढ़कर अपने पैग़म्बर की तरफ़ मंसूब कर देते थे, तो इस्लाम की किसी बात का भी भरोसा नहीं किया जा सकता, बल्कि यह भी यक़ीन नहीं किया जा सकता कि अरब में सचमुच कोई पैग़म्बर भेजा गया था। क्या अजब कि आम लोगों पर पकड़ बनाने के लिए पैग़म्बर और पैग़म्बरी का अफ़साना गढ़ लिया गया हो। इसी तरह क़ुरआन के बारे में भी शक किया जा सकता है कि वह सचमुच किसी पैग़म्बर पर उतरा था या नहीं और अगर उतरा भी था तो अपनी अस्ल इबारत में सुरक्षित है या नहीं; क्योंकि उसके हम तक पहुँचने का ज़रिआ वही लोग तो हैं जो यहूदियों या ईसाइयों और मजूसियों की बातें ले लेकर पैग़म्बर (सल्ल०) की तरफ़ मंसूब करते हुए ज़रा भी न शर्माते थे। या फिर वे लोग हैं जिनकी आँखों के सामने यह सब कुछ होता था और वे दम भी न मारते थे। 'हक़गो' साहब और उनके माननेवाले हदीस के इनकारियों ने यह ऐसा हथियार इस्लाम-दुश्मनों के हाथ में दे दिया है जो हदीस के मुहैया किए हुए हथियारों से लाख दर्जे ज़्यादा ख़तरनाक है, इससे तो इस्लाम की जड़ और बुनियाद ही खोदकर फेंक दी जा सकती है।

इससे पता चलता है कि 'हक़गो' साहब ने हदीस की किताबों पर ऐब निकालने ही के लिए निगाह डाली है और उन किताबों के अनगिनत क़ीमती हीरों की तरफ़ से आँखें बन्द करके अपना सारा वक़्त उन चीज़ों की खोज-बीन में लगाया है जो उनके नज़दीक हदीस पर मलामत करने के लिए फ़ायदेमन्द हो सकती थी। हम पूरे यक़ीन के साथ कह सकते हैं कि अगर इसी ऐबचीनी की निगाह से वे क़ुरआन मजीद को देखते तो यह किताब भी उनको सरासर ऐबों से भरी हुई नज़र आती। आख़िर क्या वजह है कि हक़ का इनकार करनेवाले हज़ारों लोग क़ुरआन को पढ़ते हैं और हिदायत पाने के बजाए और ज़्यादा गुमराह हो जाते हैं? यही न कि वे हिदायत की चाहत में क़ुरआन नहीं पढ़ते, बल्कि ऐबों को तलाश करने और इस्लाम के ख़िलाफ़ हथियार मुहैया करने के लिए पढ़ते हैं। इसी वजह से तो उनको क़ुरआन में

ऐबों के अलावा और कुछ नहीं मिलता; क्योंकि इनसान हर जगह वही कुछ पाता है जिसकी उसे चाहत होती है। इसलिए हम ख़ुदा का शुक्र अदा करते हैं कि 'हक़गो' साहब की आँखों पर ऐब-चीनी की ऐनक न लग गई, वरना वे देखते कि इस्लाम के मुख़ालिफ़ों को बहुत-से हथियार इस किताब ने भी मुहैया किए हैं, और यह बात उनको क़ुरआन से भी इनकार कर देने पर उसी तरह आमादा कर देती जिस तरह हदीस के मुहैया किए हुए हथियार दुश्मनों के हाथ देखकर उन्होंने हदीस से इनकार कर दिया।

हदीसों पर एतिराज़ों का जवाब

'हक़गो' साहब ने हदीस पर जितने एतिराज़ात किए हैं उन सबका एक-एक करके जवाब दिया जा सकता है। लेकिन हम छोटी-छोटी बातों में उलझना मुनासिब नहीं समझते, बल्कि उसूली बातों पर कुछ कहना चाहते हैं जो बहस की बुनियाद हैं। हालाँकि उनकी और हदीस का इनकार करनेवाले आम लोगों की ऐब तलाशनेवाली ज़ेहनियत को देखते हुए सुधार की उम्मीद कम है, लेकिन हमारा ख़याल यह है कि उन लोगों की गुमराही का आग़ाज़ अस्ल में नेकनीयती के नुक़्ते (बिन्दु) से होता है, और सिर्फ़ जहालत और हठधर्मी उनको ग़लत रास्तों पर डाल देती है। इसलिए हम उम्मीद करते हैं कि अगर उन्होंने अपने ज़ेहन को इनकारी ख़यालों से थोड़ी देर के लिए ख़ाली रखकर हमारी दलीलों पर सोच-विचार किया तो उनके अक़ीदे का सुधार हो जाएगा।

सबसे पहले यह बात ग़ौर करने के लायक़ है कि अल्लाह तआला ने क़ुरआन और इससे पहले सभी आसमानी किताबों को पैग़म्बरों के ज़रिए से ही क्यों उतारा? क्या खुद इसकी क़ुदरत न रखता था कि छपी-छपाई किताबें यकायक ज़मीन पर उतार देता और उनका एक-एक नुस्ख़ा (प्रति) हर इनसान के पास आप-से-आप पहुँच जाता? अगर वह इसकी क़ुदरत न रखता था तो मजबूर था, उसको ख़ुदा ही क्यों मानिए? और अगर वह क़ुदरत रखता था और यक़ीनन क़ुदरत रखता था तो उसने तबलीग़ व इशाअत (प्रचार-प्रसार) का यह ज़रिआ क्यों न अपनाया? यह तो ज़ाहिर तौर

पर हिदायत का यक़ीनी ज़रिआ हो सकता था; क्योंकि ऐसी वाज़ेह मोजिज़े (चमत्कार) को देखकर हर आदमी मान लेता कि यह हिदायत ख़ुदा की तरफ़ से आई है। लेकिन ख़ुदा ने ऐसा न किया और हमेशा पैग़म्बरों ही के ज़रिए से किताबें भेजता रहा। फिर उस पैग़म्बरी के काम पर भी उसने फ़रिश्तों या दूसरी ग़ैर-इनसानी हस्तियों को मुक़र्रर न किया; बल्कि हमेशा इनसानों ही को इसके लिए चुना। हर ज़माने के हक़ (सत्य) के इनकारियों ने बहुतेरा कहा कि अगर ख़ुदा को हम तक कोई पैग़ाम पहुँचाना ही मंजूर है तो फ़रिश्ते क्यों नहीं भेजता ताकि हमको भी इस पैग़ाम के अल्लाह की तरफ़ से उतरे होने का यक़ीन आ जाए। लेकिन ख़ुदा ने हर ऐसे सवाल पर यही फ़रमाया कि अगर हम फ़रिश्ते भेजते तो उनको इनसान ही बनाकर भेजते–

"और अगर हम फ़रिश्ते को उतारते, तब भी उसे इनसानी शक्ल में ही उतारते।" (क़ुरआन, सूरा-6 अनआम, आयत-9)

और यह कि अगर ज़मीन में फ़रिश्ते बसते होते तो हम उनकी हिदायत के लिए फ़रश्ति भेजते–

"अगर ज़मीन में फ़रिश्ते इत्मीनान से चल-फिर रहे होते तो हम ज़रूर आसमान से किसी फ़रिश्ते ही को उनके लिए पैग़म्बर बनाकर भेजते।" (क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयत-95)

सवाल यह है कि किताबें उतारने के लिए पैग़म्बरों को वास्ता बनाने और पैग़म्बरी के लिए ख़ुदा के सभी बन्दों में से ख़ास तौर पर इनसानों ही को चुनने पर इस क़द्र इसरार क्यों किया गया? इसका जवाब ख़ुद अल्लाह का कलाम (क़ुरआन) देता है। वह हमें बताता है कि ख़ुदा ने जितने रसूल और नबी भेजे हैं उनके भेजने का मक़सद यह रहा है कि वे ख़ुदा के हुक्मों के मुताबिक़ लोगों को हुक्म दें और लोग उनके हुक्मों को मानें। वे ख़ुदाई क़ानून के मुताबिक़ ज़िन्दगी बसर करें और लोग उन्हीं के नमूने देखकर उसकी इताअत करें–

"हमने जो पैग़म्बर भी भेजा, इसी लिए भेजा है कि ख़ुदा के हुक्म की बुनियाद पर उसकी इताअत (फ़रमाँबरदारी) की जाए।"
(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-64)

पैग़म्बर (अलैहि॰) एक-के-बाद-एक आते रहे और हर एक ने लोगों से यही माँग की कि ख़ुदा से डरो और मेरी इताअत करो—

"फिर तुम लोग अल्लाह से डरो और मेरी इताअत करो।"

(क़ुरआन, सूरा-26 शुअरा, आयतें-108,126,144,150,163,179)

"अगर तुम सचमुच अल्लाह से मुहब्बत रखते हो तो मेरी पैरवी करो, अल्लाह तुमसे मुहब्बत करेगा।"

(क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-31)

सच्चे ईमानवालों से कहा गया—

"बेशक तुम लोगों के लिए अल्लाह के पैग़म्बर में एक बेहतरीन नमूना है।" (क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-21)

अगर सिर्फ़ अल्लाह की किताब उतार दी जाती और कोई पैग़म्बर न आता तो लोग आयतों के मानी और मतलब में मतभेद करते और कोई फ़ैसला करनेवाला न होता। लोग ख़ुदा के हुक्मों की मंशा समझने में ग़लतियाँ क़रते और कोई उनको सही मंशा बतानेवाला न होता। इस ज़रूरत को तो ख़ैर एक हद तक फ़रिश्ते भी पूरा कर सकते थे, मगर पाकीज़गी, पाकी-सफ़ाई और परहेज़गारी के हुक्मों पर लोग यह ख़याल करते कि अमली ज़िन्दगी में उनपर अमल करना इनसान के बस का काम नहीं है। फ़रिश्ता तो इनसानी जज़बात (भावनाओं) से महरूम है। पेट नहीं रखता। शहवानी ताक़तें (कामुक शक्तियाँ) नहीं रखता। इनसानी ज़रूरतों से बेनियाज़ है। उसके लिए परहेज़गारीवाली ज़िन्दगी बसर करना कुछ भी मुश्किल नहीं। मगर हम इनसानी कमज़ोरियाँ रखते हुए उसकी तक़लीद (पैरवी) कैसे करें? इसिलए ज़रूरी था कि एक इनसान उन्हीं जज़बात और मुतालबे और उन्हीं तमाम क़ुव्वतों और इनसानी पाबन्दियों और हदों (सीमाओं) के साथ ज़मीन पर आता और लोगों के सामने ख़ुदा के हुक्मों के मुताबिक़ ज़िन्दगी बसर करके बताता कि इस तरह इनसान ख़ुदा के बताए हुए तरीक़े पर अमल कर सकता है। उसको ज़िन्दगी के वे सारे मामले पेश आते जो एक इनसान को पेश आते हैं। वह सारे मामलों में ख़ुद इनसानों के साथ शामिल होता,

अमली तौर पर हिस्सा लेता, क़दम-क़दम पर उनको अपने अमल और अपने क़ौल (कथन) से हिदायतें देता, उनकी तरबियत करता और उन्हें बताता कि ज़िन्दगी की पेचीदा और टेढ़ी राहों में से किस तरह इनसान बचकर हक़, भलाई और नेकी के सीधे-सच्चे रास्ते पर चल सकता है। यही वजह है कि ख़ुद अल्लाह ने हमारे लिए तन्हा क़ुरआन को काफ़ी न समझा और ख़ुदा के पैग़म्बर की इताअत और उनके बेहतरीन नमूने की पैरवी को इसके साथ लाज़िम कर दिया।

क़ुरआन मजीद में साफ़-साफ़ तीन चीज़ों की इताअत और फ़रमाँबरदारी का हुक्म दिया गया है। एक ख़ुदा का हुक्म, दूसरा पैग़म्बर का हुक्म और तीसरा अपने हाकिमों और अधिकारियों के हुक्म–

"इताअत करो अल्लाह की और इताअत करो पैग़म्बर (सल्ल॰) की और उन लोगों की जो तुममें से साहिबे-अम्र (हुक्म देनेवाले) हों।"
(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-59)

अगर सिर्फ़ क़ुरआन (के हुक्मों) की इताअत काफ़ी होती और इसके अलावा किसी दूसरी चीज़ की इताअत की ज़रूरत न होती तो पैग़म्बर और हाकिमों की इताअत का हुक्म ही न दिया जाता। अगर पैग़म्बर और हाकिमों का हुक्म क़ुरआनी हुक्मों के अलावा कोई चीज़ न होता, तब भी बाक़ी दोनों की पैरवी का हुक्म अलग देना बेमानी था। तीन चीज़ों की पैरवी का अलग-अलग हुक्म देना साफ़ बताता है कि क़ुरआन मजीद में जो हुक्म सीधे-सीधे अल्लाह ने दिए हैं, उनके अलावा वे हुक्म भी इताअत के लिए लाज़िम हैं जो अल्लाह के पैग़म्बर दें और उनकी इताअत बिलकुल ठीक वैसी ही है जैसी ख़ुदा की इताअत–

"जिसने पैग़म्बर की इताअत की, उसने अस्ल में ख़ुदा की इताअत की।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-80)

फिर इनके अलावा भी जो हुक्म मुसलमानों के हाकिम दें उनकी इताअत भी लाज़मी है। शर्त यह है कि इनके हुक्म ख़ुदा और पैग़म्बर के हुक्मों से उसूली मुताबिक़त (अनुकूलता) रखते हों। इख़्तिलाफ़ की सूरत में ज़रूरी है

कि अल्लाह और उसके पैग़म्बर की दी हुई हिदायतों की तरफ़ लौटा जाए—

"फिर अगर तुम्हारे बीच किसी मामले में झगड़ा हो जाए तो उसे अल्लाह और रसूल की तरफ़ फेर दो।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-59)

इससे मालूम हुआ कि अकेले ख़ुदा की किताब काफ़ी नहीं है, इसके साथ पैग़म्बरी का रिश्ता अटूट है और पैग़म्बर के हुक्मों की इताअत और पैग़म्बर के नमूने की पैरवी भी उसी तरह फ़र्ज़ (लाज़िमी) है जिस तरह अल्लाह की किताब के हुक्मों की इताअत फ़र्ज़ है। जो आदमी कहता है कि हम सिर्फ़ अल्लाह की किताब को लेंगे और पैग़म्बर के हुक्म और उसके नमूने को न लेंगे, वह अपना ताल्लुक़ पैग़म्बरी से तोड़ता है। वह उस वास्ते को काटता है जिसे ख़ुद अल्लाह ने अपने बन्दों और अपनी किताब के बीच एक लाज़िमी वास्ते के तौर पर क़ायम किया है। वह मानो यह कहता है कि ख़ुदा की किताब उसके बन्दों के लिए काफ़ी थी, मगर ख़ुदा ने ग़ैर-ज़रूरी तौर पर यह बेकार का काम किया कि किताब को पैग़म्बर के ज़रिए से नाज़िल किया—

"अल्लाह उस चीज़ से पाक है जो ये लोग कहते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-17 बनी इसराईल, आयत-43)

अल्लाह की किताब और पैग़म्बर की सुन्नत (तरीक़े) का लाज़िमी ताल्लुक़ साबित हो जाने के बाद अब इस सवाल पर सोच-विचार कीजिए कि क्या अल्लाह के पैग़म्बर के हुक्मों की इताअत और उनके बेहतरीन नमूने की पैरवी सिर्फ़ उनकी जिस्मानी ज़िन्दगी तक ज़रूरी थी। उनके बाद इसकी ज़रूरत बाक़ी नहीं रही? अगर ऐसा है तो इसके मानी ये होंगे कि अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) की पैग़म्बरी सिर्फ़ उसी दौर के लिए थी जिसमें आप (सल्ल॰) जिस्मानी तौर पर ज़िन्दा थे। आप (सल्ल॰) के दुनिया छोड़ते ही आपकी पैग़म्बरी का ताल्लुक़ अमली तौर पर दुनिया से टूट गया। इस सूरत में पैग़म्बरी का मंसब (पद) बेमानी हो जाता है। पैग़म्बर का काम अगर सिर्फ़ एक पैग़ाम लानेवाले (डाकिया) की तरह अल्लाह की किताब को पहुँचा देना

था और इससे बढ़कर किसी और चीज़ की ज़रूरत न थी तो हम फिर वही कहेंगे कि इस सूरत में पैग़म्बर की ज़रूरती ही न थी। यह काम तो फ़रिश्ता कर सकता था, बल्कि इसे बिना वास्ते के भी करना मुमकिन था। लेकिन अगर किताब पहुँचा देने के अलावा भी किसी चीज़ की ज़रूरत थी और उसी के लिए पैरवी के अहकाम दिए गए थे, और अगर इनसानों की हिदायत के लिए क़ुरआन के साथ पैग़म्बर की रहनुमाई और पैग़म्बर के ज़िन्दगी के अमली नमूने की भी ज़रूरत थी, तो फिर यह सब कुछ सिर्फ़ तेईस चौबीस साल के लिए होना क्या मानी? सिर्फ़ एक सदी के चौथाई हिस्से के लिए एक पैग़म्बर भेजना और इतनी-सी मुद्दत के लिए पैग़म्बरी (ईशदूतत्व) का इतना बड़ा मंसब (पद) क़ायम करना, और एक चीज़ को जो पैग़म्बर के जिस्म व जान का ताल्लुक़ कट जाते ही दुनिया के लिए ग़ैर-ज़रूरी हो जानेवाली थी, इतने ज़ोर-शोर के साथ हिदायत का ज़रिआ क़रार देना, ये सब बच्चों का खेल मालूम होता है जो हिकमतवाले, अक़्ल व समझ-बूझ रखनेवाले ख़ुदा के शायाने-शान हरगिज़ नहीं है।

इस इलज़ाम का जवाब ख़ुद अल्लाह ने अपनी किताब क़ुरआन में दिया है। वह हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) से फ़रमाता है–

"(ऐ नबी सल्ल॰) हमने तुमको दुनियावालों के लिए रहमत बनाकर भेजा है।" (क़ुरआन, सूरा-21 अंबिया, आयत-107)

ज़ाहिर है कि अगर अल्लाह के पैग़म्बर की पैग़म्बरी का फ़ायदा सिर्फ़ अपने ज़माने तक के लिए होता तो आप (सल्ल॰) को सारे जहान के लिए रहमतवाला नहीं कहा जा सकता था। अगर कहा जाए कि नबी (सल्ल॰) क़ुरआन लाए हैं जो हमेशा रहनेवाला है और इसी लिए आप (सल्ल॰) सारे जहान के लिए रहमतवाले हैं तो इसके मानी ये होंगे कि आप (सल्ल॰) रहमत न थे बल्कि रहमत तो क़ुरआन था और आप (सल्ल॰) को ख़ाह-मख़ाह रहमत कह दिया गया, हालाँकि अल्लाह तआला ने क़ुरआन को अलग से रहमत कहा है और इसके लानेवाले को अलग। फिर यह जो कहा–

"(ऐ नबी)! हमने तुमको सारे ही इनसानों के लिए ख़ुशख़बरी देनेवाला और डरानेवाला बनाकर भेजा है, लेकिन अकसर लोग

जानते नहीं हैं।" (क़ुरआन, सूरा-34 सबा, आयत-28)

यह आयत साफ़-साफ़ इशारा कर रही है कि नबी (सल्ल॰) के भेजे जाने के वक़्त से लेकर क़ियामत तक जो ख़ुदा के बन्दे 'अन-नास' के दायरे में आते हैं उन सबके लिए नबी (सल्ल॰) ख़ुदा के पैग़म्बर हैं। आप (सल्ल॰) की पैग़म्बरी किसी ख़ास ज़माने के लिए नहीं है, बल्कि जब तक इस ज़मीन पर 'इनसान' बसते हैं उस वक़्त तक आप (सल्ल॰) की पैग़म्बरी क़ायम है। आयत में कोई इशारा (प्रसंग) ऐसा नहीं है जिससे पता चले कि 'अन-नास' से सिर्फ़ उसी ज़माने के लोग मुराद हैं और न ऐसा कोई छोटा-से-छोटा इशारा मौजूद है जिससे बाद के किसी ज़माने तक की क़ैद निकलती हो। इसके बरख़िलाफ़ दूसरी आयतें इस तफ़सीर (व्याख्या) की ताईद करती हैं कि नबी (सल्ल॰) की पैग़म्बरी हमेशा के लिए है। अल्लाह तआला नबी (सल्ल॰) के ज़रिए से दीन (इस्लाम) को मुकम्मल कर चुका है—

"आज मैंने तुम्हारे दीन को तुम्हारे लिए मुकम्मल कर दिया है और अपनी नेमत तुमपर तमाम (पूरी) कर दी है।"

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-3)

हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की हस्ती पर पैग़म्बरी का सिलसिला ख़त्म कर दिया गया है—

"लोगो! मुहम्मद तुम्हारे मर्दों में से किसी के बाप नहीं हैं, मगर वे अल्लाह के रसूल और नबियों के समापक (आख़िरी नबी) हैं और अल्लाह हर चीज़ का इल्म रखनेवाला है।"

(क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-40)

और दूसरे नबियों की लाई हुई किताबों के बरख़िलाफ़ नबी (सल्ल॰) की लाई हुई किताब को हमेशा के लिए महफ़ूज़ किया गया है, क्योंकि पहली किताबें ख़ास ज़मानों के लिए हिदायत (मार्गदर्शन) थीं और यह हमेशा रहनेवाली हिदायत है—

"और हम ख़ुद इसके निगहबान (संरक्षक) हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-15 हिज्र, आयत-9)

इससे साबित हुआ कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की पैग़म्बरी हमेशा के लिए है, और जब ऐसा है तो वे सारी आयतें और हुक्म भी हमेशा के लिए हैं जिनमें आप (सल्ल॰) के हुक्मों की इताअत को फ़र्ज़ क़रार दिया गया है, आप (सल्ल॰) की हस्ती को बेहतरीन नमूना बताया गया है, आप (सल्ल॰) की इताअत और फ़रमाँबरदारी को ख़ुदा क़ी ख़ुशी हासिल करने का ज़रिआ कहा गया है और हिदायत का दामन आप (सल्ल॰) की फ़रमाँबरदारी के साथ जोड़ दिया गया है—

"उसकी इताअत (अनुपालन) करोगे तो ख़ुद ही हिदायत पाओगे।"

(क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-54)

ख़ुदा की ख़ुशनूदी हासिल करने और हिदायत पाने की ज़रूरत जिस तरह अल्लाह के नबी (सल्ल॰) के ज़माने के लोगों को थी, उसी तरह आज के लोगों को भी है और क़ियामत तक जो लोग आएँगे उन सबको भी रहेगी। फिर जब ये दोनों चीज़ें पैग़म्बर की फ़रमाँबरदारी और आप (सल्ल॰) की ज़िन्दगी के नमूने की पैरवी के साथ जुड़ी हैं तो लाज़िम हुआ कि पैग़म्बर (सल्ल॰) की ज़िन्दगी के वे पाक नमूने और वह्य (प्रकाशना) की ज़बान का मतलब बतानेवाले पैग़म्बर के वे पाक हुक्म भी क़ुरआन मजीद के साथ-साथ बाक़ी रहें जिनसे नबी (सल्ल॰) के ज़माने के लोगों ने हिदायत पाई थी, नहीं तो बाद की नस्लों के लिए हिदायत अधूरी रह जाएगी।

मैंने "हिदायत अधूरी रह जाएगी" के शब्द बहुत ही नर्म इस्तेमाल किए हैं। किताबों के साथ पैग़म्बरी का जो अटूट ताल्लुक़ अल्लाह ने क़ायम किया है, उसको देखते हुए और इस बारे में अल्लाह की कभी तब्दील न होनेवाली सुन्नत (परम्परा) शुरू से चली आ रही है उसका लिहाज़ करते हुए तो मुझे कहना चाहिए था कि अगर पैग़म्बर का नमूना (आदर्श) बाक़ी न रहता, अगर ख़ुदा के पैग़म्बर के अहकाम (आदेश) बाक़ी न रहते, अगर हिदायत का वह पाक सरचश्मा (स्रोत) बन्द हो जाता जो ख़ुदा के नबी (सल्ल॰) की ज़िन्दगी में था, तो सिर्फ़ अल्लाह की किताब से दुनिया की हिदायत हो ही नहीं सकती थी। इसलिए कि पैग़म्बरी के निशान मिट जाने के बाद ख़ुदा की किताब का

बाक़ी रह जाना बिलकुल ऐसा ही है जैसे पैग़म्बर के बग़ैर अल्लाह की किताब का नाज़िल होना। अगर किताब के नाज़िल होने के बावजूद पैग़म्बरी के आसार (चिह्न) के बाक़ी रहने की ज़रूरत नहीं है तो नाज़िल होने के लिए सिरे से पैग़म्बरी ही की ज़रूरत नहीं है। यह ख़ुदा की हिकमत (तत्त्वदर्शिता) पर खुला हुआ तान व तंज़ है, और अगर नाज़िल होने के साथ पैग़म्बरी का होना ज़रूरी है तो यक़ीनन उसके साथ पैग़म्बरी के आसार का रहना भी ज़रूरी है। पैग़म्बरी के आसार के बग़ैर अकेले ख़ुदा की किताब हिदायत के लिए नहीं हो सकती। इसकी वजह आप बड़ी आसानी के साथ समझ सकते हैं। अगर पैग़म्बरी के आसार (तालीमात) मिट जाते तो मुसलमानों का हश्र उन क़ौमों का-सा हो जाता जिनके पास क़िस्से-कहानियों के अलावा कुछ नहीं है।

लोग कहते हैं कि जिस आदमी पर तुम्हारे कहने के मुताबिक़ यह किताब उतरी है उसके हालात (अवस्थाएँ) तो बताओ कि हम उनको जाँच-परख कर देखें कि क्या सचमुच वह ख़ुदा का पैग़म्बर होने के लायक़ था भी या नहीं। मगर हम उन्हें कुछ न बता सकते। लोग पूछते कि तुम्हारे पास क़ुरआन के दावे की तस्दीक़ के लिए कौन-सी ऐसी ख़ारिजी (बाहरी) शहादत है जिससे तुम्हारे नबी की नुबूवत साबित हो सकती हो? लेकिन हम कोई शहादत (गवाही) पेश न कर सकते। हमको ख़ुद यह न मालूम हो सकता कि कब और किन हालात में क़ुरआन उतरा, किस तरह ख़ुदा के पैग़म्बर की हस्ती और आप (सल्ल॰) के पाक ज़िन्दगी को देखकर लोग फ़ौज-दर-फ़ौज ईमान लाए, किस तरह आप (सल्ल॰) ने लोगों के दिलों का तज़किया किया, हिकमत (तत्वदर्शिता) की तालीम दी और ख़ुदा की आयतों की तिलावत से हक़ को पहचानने का नूर (प्रकाश) फैलाया, किस तरह आप (सल्ल॰) ने इनसानी ज़िन्दगी के सारे शोबों और विभागों में तंज़ीम और सुधार का वह ज़बरदस्त काम अंजाम दिया और शरीअत (धर्म-विधान) का वह व्यापक और हकीमाना (तत्वदर्शितापूर्ण) क़ानून और ज़ाबता बनाया जो सिर्फ़ इनसानी अक़्ल के बस का काम नहीं है और जो इस बात का नाक़ाबिले-इनकार सुबूत है कि आप (सल्ल॰) हक़ीक़त में अल्लाह के पैग़म्बर थे। यही नहीं

बल्कि अगर ये रिवायतें न होती जो हदीस के इनकारियों के नज़दीक समुद्र में फेंक देने के क़ाबिल हैं तो हम क़ुरआन की सनद उसके लानेवाले तक न पहुँचा सकते। हमारे पास इसका कोई सुबूत न होता कि यह क़ुरआन अस्ल में वही है और उसी इबारत (भाषा) में है जिसमें अल्लाह के रसूल (सल्ल०) पर नाज़िल हुआ था। हमारी इस किताब की वही हैसियत रह जाती जो ज़रतुश्त की किताब ज़न्द अविस्ता, गीता, वेदों और बौद्ध-धर्म की किताबों की हैसियत है।

इसी तरह हमारी मज़हबी ज़िन्दगी के जितने अमल (कर्म) और जितने उसूल और क़ायदे-क़ानून हैं, ये भी सब-के-सब बेसनद और बेसुबूत होकर रह जाते। नमाज़, रोज़ा, हज, ज़कात और दूसरे अमल जिस तरह से अदा किए जाते हैं उनके बारे में हम कुछ न बता सकते और ख़ुद न जानते कि ये सब अल्लाह के नबी (सल्ल०) के मुक़र्रर किए हुए तरीक़ों पर हैं। हदीस के इनकारी कहते हैं कि इन सब कामों के लिए 'सुन्नते-मुतवातिरा' काफ़ी है। लेकिन संकलित और भरोसेमन्द रिवायतों (हदीसों) की ग़ैर-मौजूदगी में इस 'सुन्नते-मुतवातिरा' की हैसियत इसके अलावा और क्या होती कि अगलों से पिछलों तक एक नस्ल के बाद दूसरी नस्ल में ऐसा होता चला आया है? इस तरह की लगातार चलनेवाली सुन्नतें तो हिन्दुओं, बौद्धों और दूसरी क़ौमों में भी हैं। वे सब भी यही कहते हैं कि जो इबादतें (पूजा-पाठ) हम करते हैं और जो रस्में हममें जारी हैं वे पूर्वजों से यूँ ही चली आ रही हैं। लेकिन क्या आज उनकी लगातार सुन्नतों (तरीक़ों) पर दुनिया और ख़ुद उन क़ौमों के रौशन ख़याल लोगों में यह शुब्हा नहीं किया जाता कि ख़ुदा जाने इन तरीक़ों की अस्ल क्या थी और ज़माना बदलने के साथ-साथ वे किस तरह बदलते चले गए? क्या उन सभी तरीक़ों पर आज रस्म और रिवाजपरस्ती की फबती (खिल्ली) नहीं उड़ाई जाती? अगर कोई आदमी उनमें बदलाव करके कोई नई बिदअत (नई बात) पैदा करना चाहे तो क्या उनके पास उस बिदअत के ख़िलाफ़ कोई हुज्जत इस एक दलील के अलावा मौजूद है कि जो कुछ बाप-दादा करते चले आ रहे हैं उसमें तब्दीली नहीं हो सकती? फिर अगर हदीस के इनकारी लोगों की ख़ाहिश के मुताबिक़

हमारे यहाँ भी ऐसी मुसलसल, मुस्तनद और मुरत्तब (संकलित) रिवायतें न होतीं जो हमारे ज़माने से लेकर अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) के ज़माने तक हर वाक़िआ और हर बोल का सुबूत साथ-साथ पहुँचा देती हैं और अगर हमारे पास भी सिर्फ़ अमल (कर्म) का तसलसुल (निरन्तरता) ही बाक़ी रह जाता, जिसको 'हक़गो' साहब 'सुन्नते-मुतवातिरा' कहते हैं, तो हमारे मज़हबी अमल और इन अक़ीदों का हाल भी उन तरीक़ों और उन औहाम (अंधविश्वासों) से कुछ मुख़्तलिफ़ न होता जो हिन्दुओं और दूसरी क़ौमों में पाए जाते हैं और जिनको 'रस्मों-रिवाजों' और 'मज़हबी अफ़सानों' के नाम से जाना जाता है।[1] ग़ौर कीजिए, यह इस्लाम के लिए ताक़त और मज़बूती का सबब होना है या फिर कमज़ोरी और बेइत्मीनानी का सबब?

इस बहस से यह बात बिलकुल वाज़ेह हो जाती है कि अल्लाह की किताब के साथ पैग़म्बर की सुन्नत (तरीक़े) का रहना बहुत ही ज़रूरी और लाज़िमी है।

अब इस सवाल की तरफ़ आइए कि रसूल (सल्ल॰) की सुन्नत के हम तक पहुँचने की सूरत क्या है और क्या हो सकती है? यह बिलकुल वाज़ेह और साफ़ है कि नबी (सल्ल॰) रसूल बनाए जाने के बाद से आख़िरी साँस तक लगभग चौथाई सदी का जो ज़माना दुनिया में बसर किया वह सिर्फ़ क़ुरआन पढ़ने और सुनाने ही में बसर नहीं हुआ होगा, बल्कि आप (सल्ल॰) आयतों की तिलावत के अलावा भी दिन-रात अपने दीन (इस्लाम) का प्रचार-प्रसार भी करते रहे होंगे। गुमराह और भटके लोगों को समझाने की कोशिश भी करते होंगे, ईमान लानेवालों को तालीम (शिक्षा) भी देते होंगे और अपनी इबादत, अपने अख़लाक़, किरदार और अपने बेहतरीन अमल का नमूना (आदर्श) पेश करके लोगों की तरबियत और सुधार करने में मशग़ूल रहते होंगे। खुद क़ुरआन मजीद में कहा गया है—

1. ख़ुद मुसलमानों में उर्सों, नियाज़ों और शादी व ग़मी की रस्मों का जो सिलसिला आज चल रहा है, हदीस की ग़ैर-मौजूदगी में इन सबको भी 'सुन्नते-मुतवातिरा' क़रार दिया जा सकता है और हदीस के इनकार के बाद इन 'मुतवातिर सुन्नतों' को रद्द नहीं किया जा सकता।

"जो तुम्हें हमारी आयतें सुनाता है, तुम्हारी ज़िन्दगियों को सँवारता है, तुम्हें किताब और हिकमत (तत्वदर्शिता) की तालीम देता है और तुम्हें वे बातें सिखाता है, जो तुम न जानते थे।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-151)

फिर क़ुरआन मजीद से यह भी पता चलता है कि यह मुअल्लिमाना (इल्म सिखानेवाली) ज़िन्दगी इतनी ज़्यादा मसरूफ़ियत में बसर होती थी कि आप (सल्ल॰) को अपने आराम का ज़र्रा बराबर भी ख़याल न था, हर पल या तो इबादतों में बसर होता था, या वाज़-नसीहत और तालीम व हिकमत और लोगों के मन का तज़किया (पाक-साफ़) करने में। यहाँ तक कि बार-बार अल्लाह तआला नबी (सल्ल॰) से फ़रमाता था कि आप इतनी ज़्यादा मेहनत क्यों करते हैं? अपने-आपको हलाक क्यों किए डालते हैं?

अब क्या कोई कह सकता है कि ऐसी सरगर्म मुबल्लिग़ाना ज़िन्दगी में क़ुरआन की आयतों के सिवा कोई बात भी नबी (सल्ल॰) की ज़बान से ऐसी न निकलती थी जो याद रखने और बयान करने के क़ाबिल होती? कोई काम भी आप (सल्ल॰) की ज़िन्दगी का ऐसा न था कि जिसको लोग अपने लिए नमूना समझते और दूसरों को उस पाकीज़ा नमूने की पैरवी का मश्वरा देते? आप (सल्ल॰) के क़ौल (कथन) और अमल के मुताल्लिक़ तो ईमान लानेवालों को यक़ीन था और क़ुरआन ने भी उनको यही एतिक़ाद यक़ीन रखने का हुक्म दिया था कि आप (सल्ल॰) का हर बोल बिलकुल हक़ (सत्य) है—

"वह अपने नफ़्स (मन) की ख़ाहिश से नहीं बोलता।"

(क़ुरआन, सूरा-53 नज्म, आयत-3)

और नबी (सल्ल॰) के हर अमल की तक़लीद (अनुपालन) ज़रूरी है—

"सचमुच तुम लोगों के लिए अल्लाह के पैग़म्बर में एक बेहतरीन नमूना है।" (क़ुरआन, सूरा-33 अहज़ाब, आयत-21)

ज़ाहिर है कि यह यक़ीन और एतिक़ाद रखते हुए तो मुसलमान यक़ीनी तौर पर ही नबी (सल्ल॰) के हर बोल को दिल से सुनते होंगे, हर अमल पर

निगाह रखते होंगे और आपस में एक-दूसरे के सामने आप (सल्ल॰) की बातों, कथनों और अमल के चर्चे करते होंगे। जहाँ पैग़म्बरी और किसी क़िस्म की पाकी का यक़ीन नहीं होता, वहाँ भी बड़े लोगों की बातों और रहन-सहन पर लोग नज़र रखते हैं और उनकी करनी-कथनी के चर्चे किया करते हैं, फिर किस तरह मुमकिन था कि प्यारे सहाबा (रज़ि॰) जिस पाकबाज़ इनसान को ख़ुदा का पैग़म्बर और इस्लाम का मुकम्मल नमूना समझते थे, उससे सिर्फ़ क़ुरआन ले लेते और उसकी दूसरी सारी बातों और उसके सारे कामों की तरफ़ से कान और आँखें बन्द कर लेते।

उस ज़माने में फ़ोटोग्राफ़ी करने के कैमरे और दूसरे यंत्र न थे कि अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) के उठने-बैठने और सभी आदतों के फ़िल्म ले लिए जाते। न आवाज़ रिकॉर्ड करने के यन्त्र थे कि आपकी तक़रीरों (भाषणों) के रिकॉर्ड भरकर रख लिए जाते। न मक्का-मदीना से अख़बार निकलते थे कि रोज़ाना आप (सल्ल॰) के प्रचार-प्रसार के कार्यक्रमों और आपके आमाल की रिपोर्टिंग शाया (प्रकाशित) होतीं। नक़्ल और हिफ़ाज़त का ज़रिआ जो कुछ भी था वह लोगों का हाफ़्ज़ा (स्मरण-शक्ति) और ज़बानें थीं। पुराने ज़माने में न सिर्फ़ अरब बल्कि सभी क़ौमों के पास वाक़िआत को महफ़ूज़ रखने और बाद की नस्लों तक पहुँचाने का यही एक ज़रिआ था। लेकिन अरब के लोग ख़ास तौर से अपनी याददाश्त और नक़ल की ख़ूबी में माहिर और मशहूर थे, और उनकी यह ख़ूबी ऐसी थी कि शायद हमारे 'हक़गो' साहब के फ़ोनक्रेमर को भी इससे इनकार न हो। जो क़ौम अरबी-दिनों, जाहिली कलाम (साहित्य), क़बीलों की नस्ल, यहाँ तक कि ऊँटों और घोड़ों तक के नस्बनामे (जन्मपत्री) याद करती और रखती हो और अपनी औलाद को भी याद कराती हो, उससे मुमकिन ही न था कि वह अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) जैसी महान हस्ती के हालात, आदतों और कथनों को न याद रखती और आनेवाली नस्लों तक उन्हें न पहुँचाती।

फिर जब पैग़म्बर (सल्ल॰) का इन्तिक़ाल हुआ तो फ़ितरी बात थी कि लोगों में आप (सल्ल॰) की बातों और अमली कामों की खोज व तलाश की उत्सुकता और बढ़ जाती। जो लोग नबी (सल्ल॰) को देखने और मिलने-जुलने

से महरूम रह गए थे उनमें शौक़ पैदा होना बिलकुल फ़ितरी बात थी कि आप (सल्ल०) के संगी-साथियों से आप (सल्ल०) की बातें और आप (सल्ल०) के हालात पूछें। हम ख़ुद देखते हैं कि अगर कोई पीरमर्द (बुज़ुर्ग) ऐसा निकल आता है जिसने पिछले सदी के बड़े बुज़ुर्गों में से किसी महान बुज़ुर्ग की संगत पाई हो तो लोग उसके पास जाते हैं और उसके हालात पूछते हैं। हमारे एक साथी ने उत्तर भारत से हैदराबाद का सफ़र इस मक़सद के लिए किया कि अगर कोई पुराना आदमी ऐसा मिल जाए जिसने सैयद जमालुद्दीन अफ़ग़ानी की संगत पाई हो तो उससे सैयद साहब के हालात मालूम करे। यह मामला जब आम इनसानों के साथ पेश आता है तो क्या यह मुमकिन था कि ख़ुदा के सबसे बड़े और प्यारे पैग़म्बर (सल्ल०) और दुनिया के सबसे बड़े मुअल्लिम (प्रशिक्षक) की वफ़ात (मृत्यु) के बाद मुसलमानों में उनके हालात जानने-पूछने और उसकी कही बातों से फ़ायदा उठाने की कोई ख़ाहिश न होती? क्या इतिहास के उन वाक़िआत में कोई अनोखी या अक़्ल के ख़िलाफ़ बात है कि लोग जहाँ किसी सहाबी (रज़ि०) की ख़बर पा लेते वहाँ सैकड़ों मील से सफ़र करके जाते और नबी (सल्ल०) के हालात पूछते? यही मामला यक़ीनन सहाबा (रज़ि०) के बाद ताबिईन के साथ पेश आया होगा। कम-से-कम दो सदी तक हदीस सुनने और हदीस नक़ल करने का ग़ैर-मामूली (असाधारण) लगाव मुसलमानों में पाया जाना यक़ीनी है और यह बात न सिर्फ़ अन्दाज़े (क़ियास) के ठीक मुताबिक़ है, बल्कि इतिहास भी इसकी गवाही देता है।

हदीस के इनकारी अक़्ली क़ियास (अनुमान) से तो काम ही नहीं लेते। रहा तारीख़, तो वे उसके सिर्फ़ उसी हिस्से को मानते हैं जिससे हदीस के इनकार करने के लिए मवाद (विषय-समग्री) मिल सकता हो। इसके अलावा तारीख़ की जितनी शहादतें हैं सब उनके नज़दीक भरोसे के लायक़ नहीं हैं। लेकिन जिन लोगों में कम-से-कम हदीस से इनकार के लिए हठधर्मी पैदा नहीं हुई है वे यक़ीनन इस बात को मान लेंगे कि नबी (सल्ल०) की महान हस्ती और आपकी दमकती हुई पैग़म्बराना ज़िन्दगी इतनी नाक़ाबिले-तवज्जोह तो न थी मुसलमानों में कम-से-कम दो सौ साल तक भी आप (सल्ल०) के

हालात मालूम करने और आप (सल्ल॰) की कही बातें सुनने का आम शौक़ न रहता। इससे इनकार करने के दूसरे मानी ये होंगे कि पहले के लोगों पर नबी (सल्ल॰) का कोई असर न था और वे लोग भी आप (सल्ल॰) की तरफ़ कोई ध्यान न रखते थे जो आप (सल्ल॰) की पैग़म्बरी के क़ायल हो चुके थे। हदीस के इनकारियों को इख़्तियार है कि पैग़म्बर की हस्ती और उन लोगों के बारे में जो आप (सल्ल॰) से बिलकुल क़रीब थे इस तरह की या इससे भी ज़्यादा बुरी कोई राय क़ायम कर लें। लेकिन हम समझते हैं कि कोई मुसलमान तो कहाँ, इस्लामी इतिहास और इस्लामी लिटरेचर का दिल से पढ़नेवाला कोई इनसाफ़-पसन्द ग़ैर-मुस्लिम भी इस राय को सही ख़याल न करेगा।

इसमें शक नहीं कि पैग़म्बरी (रिसालत) के ज़माने से दूर होने के बाद मुसलमानों में बाहरी असर भी दाख़िल होने लगे थे, और ये असर ज़्यादातर वे लोग अपने साथ लाए थे जिन्होंने इराक़, इरान, सीरिया (शाम) और मिस्र में इस्लाम मज़हब क़बूल तो कर लिया था लेकिन पुराने मज़हबों के ख़यालात उनके ज़ेहनों से मिटे नहीं थे। इसमें भी सन्देह नहीं कि मुसलमानों में एक गरोह ऐसा भी पैदा हो गया था जो अपने दिल से गढ़कर बातें निकालता था और सिर्फ़ लोगों पर असर डालने के लिए उन बातों को अल्लाह के नबी (सल्ल॰) की तरफ़ मंसूब कर देता था। ये दोनों बातें इतिहास से भी साबित हैं और क़ियास (अनुमान) भी यही चाहता है कि ऐसा ज़रूर हुआ होगा। लेकिन इससे यह नतीजा निकालना क्या सही हो सकता है कि मुसलमानों में सब-के-सब ऐसे ही लोग थे? सब झूठे और बे-ईमान थे? सब ऐसे मुनाफ़िक़ थे कि उसी हस्ती पर बुहतान (झूठे आरोप) गढ़ते जिसकी पैग़म्बरी पर वे दिनभर में कम-से-कम पाँच बार गवाही दिया करते थे? सब-के-सब हक़ के ऐसे दुश्मन थे कि दुनियाभर की ख़ुराफ़ात लेकर पैग़म्बर के नाम से ख़ुदा के दीन में दाख़िल करते और उसी की जड़ें काटते? यह नतीजा न अक़्ली तौर पर निकाला जा सकता है और न इतिहास इसकी तस्दीक़ करता है, और जब यह सही नहीं है तो सच्चाई के साथ सिर्फ़ यह कहा जा सकता है कि पहली सदी के आख़िर से हदीस के भंडारों में एक हिस्सा ऐसी रिवायतों

का भी दाख़िल होने लगा था जो गढ़ी हुई थीं, और यह कि बाद की नस्लों को जो हदीसें पहुँची हैं उनमें सही और ग़लत और मशकूक (सन्देहात्मक) सब तरह की हदीसें मिली-जुली थीं।

खरे और खोटे के इस मिलावट (मिश्रण) के बाद काम का सही तरीक़ा क्या था? क्या यह सही हो सकता था कि मिलावट की बुनियाद पर सही और ग़लत सबको एक साथ रद्द कर दिया जाता, और बाद के मुसलमान पैग़म्बरी से अपना ताल्लुक़ काट लेते? हदीस के इनकारी इसको एक आसान बात समझते हैं। मगर जो लोग क़ुरआन पर ईमान रखते थे और पैग़म्बर (सल्ल॰) की हस्ती को बेहतरीन नमूना समझते थे और जिनके नज़दीक नबी (सल्ल॰) की पैरवी किए बग़ैर हिदायत का मिल पाना मुमकिन न था, उनके लिए ऐसा करना बहुत मुश्किल था। इतना मुश्किल जितना किसी के लिए राज़ी-ख़ुशी आग में कूद पड़ना हो सकता है। उन्होंने सबको रद्द कर देने के मुक़ाबले में पहाड़ खोदकर हीरे निकालने की मशक़्क़त को ज़्यादा आसान समझा। पैग़म्बरी से अपना और मुसलमानों का ताल्लुक़ बनाए रखने के लिए रात-दिन मेहनतें कीं। हदीस के जाँचने और परखने के उसूल बनाए। खरे को खोटे से अलग किया। एक तरफ़ रिवायत के उसूल के एतिबार से हदीसों की जाँच-परख की, दूसरी तरफ़ हज़ारों-लाखों रावियों (रिवायत करनेवालों) के हालात की जाँच-पड़ताल की।

तीसरी तरफ़ दिरायत (मनोवैज्ञानिक तौर पर) के एतिबार से हदीसों पर नक़्द (समीक्षा) किया। और इस तरह हदीसों को जाँच-परख कर अलग किया और इस तरह पैग़म्बर (सल्ल॰) की सुन्नत के बारे में उन लोगों ने एक ऐसा भंडार मुहैया कर दिया जिसके बराबर मुस्तनद और भरोसेमन्द भंडार आज दुनिया में पिछले ज़माने के किसी आदमी और किसी दौर या ज़माने के बारे में मौजूद नहीं है। हदीस के इनकारियों को आज़ादी है कि उनकी सारी मेहनतों पर बस क़लम की ज़रा-सी हरकत से पानी फेर दें। हदीस के इनकारियों को इख़्तियार है कि दीन के उन सच्चे सेवकों को हदीस गढ़नेवाले, ग़ैर-अरब में पले-बढ़े, बनी-उमैया और बनी-अब्बास का जूठा

खानेवाले और जो कुछ चाहें, कहें।[1] लेकिन सच यह है कि मुसलमानों पर उन हदीस के आलिमों और इमामों का इतना बड़ा एहसान है कि वे क़ियामत तक इस भार से आज़ाद नहीं हो सकते। ख़ुदा उनकी क़ब्रों को नूर से भर दे! यह उन्हीं आशिक़ाने-रसूल की मेहनतों का फल है कि आज हमारे पास नबी (सल्ल॰) के ज़माने का पूरा इतिहास अपने सभी जुज़इयात (अंशों) के साथ मौजूद है और वे संसाधन भी हमारे पास मौजूद हैं जिनसे हम हदीस के भंडार की जाँच-पड़ताल करके आज भी घटनाओं की सही-सही जाँच कर सकते हैं।

हदीस के इनकारी कहते हैं कि मुतवातिर रिवायतों के अलावा (जो बहुत ही कम हैं) बाक़ी जितनी हदीसें हैं यक़ीनी (विश्वसनीय) नहीं हैं, उनसे यक़ीनी इल्म हासिल नहीं होता, बल्कि ज़्यादा-से-ज़्याद ग़ालिब गुमान हासिल होता है, फिर ऐसी चीज़ों पर मज़हब की बुनियाद रखना क्या मानी, हम कहते हैं कि आँखों देखे और खुले तजरिबों के सिवा दुनिया में कोई साधन भी ऐसा नहीं है जो फ़ायदेमन्द हो सकता हो। तवातुर (निरन्तरता) को भी सिर्फ़ इस क़ियास की बिना पर यक़ीनी समझा जाता है कि बहुत-से आदमियों का झूठ पर राज़ी हो जाना दुश्वार है। लेकिन मुतवातिर ख़बर के लिए जो शर्तें हैं वे बहुत कम ऐसी ख़बरों में पाई जाती हैं जिनपर तवातुर का गुमान होता है और ग़ैब (परोक्ष) के मामलों में, चाहे वे बीते ज़माने से ताल्लुक़ रखते हों या मौजूदा ज़माने से, हमारे इल्म (ज्ञान) और हमारे फ़ैसलों की बुनियाद उसी ग़ालिब गुमान पर है जो कम-से-कम दो गवाहों से हासिल होता है। ख़ुद क़ुरआन ने इसी गुमानी गवाही को इतना भरोसेमन्द ठहराया है कि इसकी बुनियाद पर एक मुसलमान का ख़ून हलाल हो सकता है। हालाँकि क़ुरआन के मुताबिक़ मुसलमान का ख़ून इतना मुहतरम (सम्मानित) है कि जो कोई मुसलमान को जान-बूझकर क़त्ल कर दे उसे आग में डाल देने की सज़ा दी जाएगी। इसी तरह ज़िना (बलात्कार, व्यभिचार) क़ज़्फ़ (व्यभिचार का आरोप लगाना) और चोरी की सज़ाओं में भी ऐसे अहम फ़ैसलों की बुनियाद भी दो या चार गवाहों पर रखी गई है, जिनसे एक

1. ये सब उपाधियाँ 'हक़गो' साहब ने हदीस के इमामों के लिए इस्तेमाल की हैं।

मुसलमान का हाथ काट दिया जा सकता है, या एक मुसलमान की पीठ पर कोड़े बरसाए जा सकते हैं। तो फिर जब क़ुरआन मजीद में ग़ैर-मुतवातिर गवाहियाँ ही पूरे निज़ामे-अद्‌ल (न्याय-व्यवस्था) की बुनियाद रखी गई है तो क़ुरआन के मुक़ाबले में किस मुसलमान को यह कहने की हिम्मत हो सकती है कि किसी हदीस को पैग़म्बर की हदीस मान लेने के लिए हर बार सनदों में दो या चार रावियों का होना काफ़ी नहीं है? अलबत्ता रावियों (हदीस बयान करनेवालों) में से हम हर रावी पर भरोसा नहीं करेंगे, जिस तरह गवाह का भरोसा नहीं करते। हम क़ुरआन के हुक्म के मुताबिक़ मुंसिफ़ (इनसाफ़-पसन्द) होने की शर्त लगाते हैं और इसी की तहक़ीक़ और खोज-बीन के लिए 'अस्माउर्रिजाल' (हदीस के रावियों के नाम) का फ़न ईजाद किया गया, ताकि रावियों के हालात की तहक़ीक़ की जाए। इसी तरह हम रावियों पर बहस और जिरह भी करेंगे कि हदीस के जौहरी बिन्दुओं में उनके बीच ऐसा इख़्तिलाफ़ तो नहीं है जो उनके बयान की सेहत को मशकूक (सन्देहात्मक) कर देता हो? इसी तरह हम सूझ-बूझ और अक़्ल से भी काम लेंगे जैसे एक जज मुक़द्दमों में अपनी सूझ-बूझ और अक़्ल से काम लेता है।[1]

लेकिन जिस तरह गवाहों के बयानों को जाँचना-परखना हर आदमी के बस की बात नहीं है, उसी तरह दिरायत (हदीसों की अक़्ली हैसियत से परख) भी बच्चों का खेल नहीं है। हदीस को दिरायत के उसूल (नियम) पर वही आदमी जाँच सकता है जिसने क़ुरआन का इल्म हासिल करके इस्लाम के बुनियादी उसूल को ख़ूब गहराई से समझ लिया हो और जिसने हदीस के बेशतर हिस्से का गहरा मुताला (अध्ययन) करके हदीसों को परखने की सूझ-बूझ पैदा कर ली हो। अध्ययन की कसरत (अधिकता) और तजरिबों से इनसान में ऐसी महारत पैदा हो जाती है जिससे वह अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) के मिज़ाज (स्वभाव) का पारखी हो जाता है और इस्लाम की सही

1. फ़न्ने-हदीस में दिरायत की हैसियत वही है जो क़ानून में जज की राय और क़ुव्वते-फ़ैसला की है। जिस तरह जज हर गवाह के बयान को यूँ ही क़बूल नहीं कर लेता बल्कि उसको मुख़्तलिफ़ पहलुओं से जाँच कर राय क़ायम करता है उसी तरह एक मुहद्दिस भी हर रिवायत को आँख बन्द करके क़बूल नहीं करता। बल्कि जाँच-पड़ताल करके उसके बारे में राय क़ायम करता है।

रूह उसके दिल-दिमाग़ में बस जाती है। फिर वह एक हदीस को देखकर पहली नज़र में समझ लेता है कि क्या अल्लाह के नबी (सल्ल॰) ऐसा फ़रमा सकते थे या नहीं, या आप (सल्ल॰) का अमल ऐसा हो सकता था या नहीं? फिर जिस तरह एक मामले में दो क़ाज़ियों का इजतिहाद (राय) मुख़्तलिफ़ होता है और जिस तरह क़ुरआन मजीद के अर्थों में दो आलिमों की तफ़्सीरें (टीकाएँ) मुख़्तलिफ़ हो सकती हैं, उसी तरह दो हदीस के आलिमों की सूझ-बूझ में भी इख़्तिलाफ़ मुमकिन है। ख़ुदा ने हमको इनसानी ताक़त से ज़्यादा किसी चीज़ का मुकल्लफ़ नहीं बनाया है। आपसी इख़्तिलाफ़ इनसानी फ़ितरत की माँग है और इसकी वजह से न क़ुरआन छोड़ा जा सकता है, न हदीस और न अदालत की कुर्सी।

फिर एक हदीस के बारे में जिस हद तक खोज-बीन इनसान के बस में है, उसका सामान हदीस के आलिमों ने मुहैया कर दिया है। हमारा काम उस सामान से फ़ायदा उठाकर सही को ग़लत से अलग करना और सही की पैरवी करना है, न यह कि सही व ग़लत के आपस में मिल जाने को देखकर सिरे से पैग़म्बरी ही से ताल्लुक़ तोड़ लेना।

हदीस के इनकारी कहते हैं कि हम हदीस को सिर्फ़ इतिहास की हैसियत से लेंगे, शरई हुज्जत नहीं बनाएँगे। लेकिन क्या उन लोगों ने पैग़म्बर के इतिहास को सिकन्दर और नेपोलियन का इतिहास समझा है कि उसके सही होने या न होने से कोई फ़र्क़ न पड़ता हो? क्या वे इतना भी नहीं समझते कि यह उस इनसान का इतिहास है जिसकी इताअत फ़र्ज़ (अनिवार्य) है, जिसकी पैरवी पर ही नजात (मोक्ष) मुमकिन है, जिसकी सीरत (जीवनी) मुसलमानों के लिए बेहतरीन नमूना है? उस पाक हस्ती का इतिहास दो हाल से ख़ाली नहीं हो सकता, या सही होगा या ग़लत। अगर ग़लत है तो उसको लेना क्या मानी, उसे आग में झोंक दीजिए। पैग़म्बर पर झूठा बुहतान (आरोप) और आप उसको इतिहास की हैसियत से क़बूल करें? और अगर वह सही है तो उसकी इताअत और पैरवी फ़र्ज़ है। मुसलमान होते हुए उसकी इताअत से आप बच कहाँ सकते हैं?

हदीस के इनकार की वजहें

हदीस के इनकारियों के लेखों पर नज़र डालते हुए हदीस के इनकार की दो वजहें ठहराई जा सकती हैं—

एक यह कि इस्लाम के दीनी-निज़ाम में सिरे से हदीस की ज़रूरत ही नहीं है। सिर्फ़ क़ुरआन काफ़ी है।

दूसरे यह कि हदीसें एतिबार के क़ाबिल नहीं हैं।

इनमें से पहली वजह का जवाब पहले दिया जा चुका है। रही दूसरी वजह तो इसकी ग़लती भी इशारे के तौर पर पिछले पन्नों में वाज़ेह की जा चुकी है। लेकिन ज़रूरत है कि इस शुब्हा को भी ज़रा तफ़सील के साथ दूर कर दिया जाए। हदीसों के नाक़ाबिले-एतिबार समझने की अस्ल वजह वहम और शक का हद से ज़्यादा बढ़ जाना है। इनसान के मिज़ाज में शक का बीज इसलिए पैदा किया गया है कि वह बहस और खोज-बीन और तलाश व तहक़ीक़ के लिए प्रेरक हो और हक़ीक़त की जुस्तजू पर इनसान को उभारे। लेकिन हर चीज़ के लिए एक हद होती है जिससे घट जाने या बढ़ जाने पर वह बेहतर और पसन्दीदा नहीं रहती। शक का बीज अगर इतना बढ़ जाए कि वह तहक़ीक़ के उन तरीक़ों से जो इनसान के इमकान में हैं, उसको मुतमइन न होने दे और उन सारी बातों से इनकार पर आमादा कर दे जो तहक़ीक़ के ऐसे मेयार पर पूरी न उतरती हों जिसका हासिल करना नामुमकिन हो तो यह भी एक बुरी और ख़राब ख़ूबी है, जिसको हम उर्दू ज़बान में 'वहमीपन' का नाम देते हैं।

ग़ौर कीजिए तो मालूम होगा कि इनसान ज़्यादातर मामलों में सिर्फ़ उस तहक़ीक़ पर भरोसा करने के लिए मजबूर है जिससे ग़ालिब गुमान हासिल होता है। अगर वह उस तहक़ीक़ पर शक करे और यक़ीनी इल्म के बग़ैर हर बात को मानने से इनकार कर दे तो वह दुनिया के काम का न रहेगा, बल्कि शायद ज़िन्दा भी न रह सकेगा। मिसाल के तौर पर मैंने आज तक कभी किसी आदमी को साँप के काटे से मरते हुए नहीं देखा, न मुझे साँप ने काटा कि उसके मुहलिक (घातक) होने का मुझे यक़ीनी इल्म (ज्ञान)

हासिल होता। मैंने सिर्फ़ लोगों से सुना है कि जब साँप काटता है तो इनसान मर जाता है। मैं इस रिवायत पर यक़ीन रखता हूँ और साँप को देखकर उससे बच जाता हूँ। लेकिन अगर मैं इस रिवायत पर शक करूँ और कहूँ कि जब तक साँप मेरे सामने किसी को न काटे और उसी के असर से वह मेरे सामने मर न जाए या जब तक साँप ख़ुद मुझको न काटे और मैं उसके ज़हर से मर न जाऊँ, उस वक़्त तक मैं यक़ीन न करूँगा कि साँप घातक होता है, तो मेरे इस शक का जो कुछ अंजाम होगा वह साफ़ ज़ाहिर है।

यह तो ख़ैर रिवायते-मुंतवातिरा की मिसाल है जिसके यक़ीनी तौर पर फ़ायदेमन्द होने को आमतौर से तस्लीम (स्वीकार) किया जाता है। लेकिन हमारी ज़िन्दगी के अनगिनत मामले ऐसे हैं जिनमें हम एक-दो रावियों की दी हुई ख़बरों को तस्लीम करते हैं और उन्हीं पर अपने फ़ैसलों और अपने इल्म व अमल की बुनियाद रखते हैं। सिर्फ़ ख़बर होने की हैसियत से हर ख़बर में सच और झूठ होने का बराबर गुमान रहता है, लेकिन हम इन दोनों पहलुओं में से एक को तरजीह देने के लिए सिर्फ़ ख़बर के होने ही पर नज़र नहीं रखते, बल्कि आम तौर पर बाहरी गुमानों से मदद लेकर सच या झूठ के किसी एक पहलू को तरजीह (प्राथमिकता) देते हैं और आम तौर से कभी हमारी यह तरजीह इतनी ज़्यादा ताक़तवर होती है कि दूसरे पहलू के इमकान को भी मानने के लिए हम तैयार नहीं होते। मिसाल के तौर पर हर आदमी को यह बात कि वह अपने बाप की जाइज़ औलाद है सिर्फ़ अपनी माँ की रिवायत से मालूम होती है। इस अकेली ख़बर में जिसके लिए कोई दूसरा गवाह मिल ही नहीं सकता, सिर्फ़ ख़बर होने की हैसियत से सच और झूठ का बराबर गुमान है। लेकिन कोई शरीफ़ आदमी इसमें झूठ के पहलू को तरजीह देना तो दर-किनार, किसी दर्जे में भी मानने के लिए तैयार न होगा चाहे सच्चाई के एतिबार से उसका अपनी माँ के बयान पर यक़ीन करना ठीक न हो।

आप कह सकते हैं कि इसका ताल्लुक़ जज़्बात (भावनाओं) से है। मैं कहता हूँ कि जहाँ जज़्बात का दख़ल नहीं होता वहाँ भी हम इसी तरह अकेली एक ख़बर की इमकानी जाँच-पड़ताल करके सच-झूठ के दोनों

पहलुओं में से एक को तरजीह देते हैं और हालाँकि इस तरजीह से सिर्फ़ ग़ालिब गुमान हासिल होता है, लेकिन उस गुमान पर हम उसी तरह अमल करते हैं जिस तरह यक़ीनी इल्म हासिल होने की सूरत में करते। हमारी ज़िन्दगी के मामलों में सबसे ज़्यादा अहम और नाज़ुक मामला अदालत का है जिसमें जज़बात का ज़र्रा बराबर दख़ल नहीं, बल्कि ख़ालिस और ठोस अक़्ली इम्तिहान पर हुक्मों की बुनियाद रखी जाती है। क़ाज़ी या जज के सामने जितने मामले पेश होते हैं उन सबका ताल्लुक़ बीते हुए वाक़िआत से होता है और बहुत कम वाक़िआत, बल्कि इक्का-दुक्का ऐसे होते हैं जिनमें गवाहियाँ तवातुर की हद को पहुँचती हों। ज़्यादातर मामलों में जज के सामने सिर्फ़ "एक-एक करके ख़बरें" पेश होती हैं जिन्हें वह तर्क-वितर्क, सुबूत और गंवाहों और अक़्ली गुमान की कसौटी पर कसकर सच और झूठ के इमकानी पहलुओं में से किसी एक पहलू को तरजीह देता दे देता है और जब किसी पहलू को तरजीह देता है तो उसपर वह इस तरह फ़ैसला करता है जैसे उसके नज़दीक वाक़िआ सच होने की हद तक साबित हो गया है। अगर कोई जज हर गवाह को झूठ और हर गवाही को ग़लत फ़र्ज़ करके अपना काम शुरू करे और हर वाक़िए को सच मानने के लिए इस बात पर इसरार करे कि या तो वाक़िआ ख़ुद उसकी आँखों के सामने पेश आए या मुतवातिर रिवायतें उस तक पहुँचें, तो यक़ीनी तौर पर कुछ घंटों ही में उसको अदालत की कुर्सी छोड़ देनी पड़ेगी।

इसी तरह तिजारत (व्यापार), शासन-व्यवस्था और दूसरे कारोबार में भी रात-दिन अकेली एक-एक ख़बर पर हमारे मामले चलते हैं, बल्कि बहुत-सी ख़बरें तो हम को तार (टेलीग्राम) और अख़बार के ज़रिए से मिलती हैं जिनके सच होने में अक़्ली तौर पर बहुत-से शक और सन्देहों की गुंजाइश निकलती है। हम नहीं कह सकते कि जिस आदमी ने हमको तार (टेलीग्राम) दिया है वह अस्ल में वही आदमी है जिसका नाम तार (टेलीग्राम) पर लिखा हुआ है और अगर तार (टेलीग्राम) सचमुच उसी का दिया हुआ है तब भी हमको नहीं मालूम कि जो ख़बर वह दे रहा है वह उसे किस ज़रिए से मालूम हुई और उसका ज़रिआ भरोसेमन्द है या नहीं? इस तरह के बहुत-से शक और गुमान

हर तार (टेलीग्राम) की ख़बर में होते हैं। लेकिन जिन लोगों का सारा कारोबार इन्हीं ख़बरों पर चलता है वे उन गुमानों की तरफ़ बहुत ही कम तवज्जोह करते हैं। सिर्फ़ ज़ाहिरी गुमान से यह जाँच लेते हैं कि तार (टेलीग्राम) उन्हीं के एजेंट का दिया हुआ है या नहीं, और जब एक ग़ालिब गुमान उनको हासिल हो जाता है तो उसपर अपने लाखों रुपए लगा देते हैं।

यही सूरत मज़हबी मामलों में भी है। सबसे बड़ी चीज़ जिसपर हमारे ईमान की बुनियाद है, क़ुरआन मजीद है। इस किताब का ख़ुदा का कलाम (वाणी) होना हमको सिर्फ़ एक गवाह की गवाही से मालूम हुआ है, और वह गवाह नबी (सल्ल०) की पाक हस्ती है। सिर्फ़ ख़बर होने के लिहाज़ से इसमें भी सच-झूठ होने का शक और गुमान है। लेकिन ख़बर जिस गवाह ने दी है उसका सच्चा होना, ईमानदारी, दीनदारी और पाकीज़ा सीरत को देखकर और जो ख़बर उसने दी है उसके हक़ होने और अक़्ल की कसौटी पर खरा उतरने का लिहाज़ करके हम झूठ के पहलू पर सच के पहलू को तरजीह देते हैं, और फिर यही तरजीह ईमान बनकर हमारे दिल में ऐसी जम जाती है कि झूठ का तसव्वुर तक नहीं आने पाता। लेकिन दूसरी तरफ़ बहुत-से लोग हैं जिन्हें उस अमानतदार गवाह की गवाही में शक है और इसी शक-शुब्हे की बुनियाद पर वे उसको सच मानने से इनकार कर रहे हैं। हममें और उनमें अगर कोई फ़र्क़ है तो वह सिर्फ़ यही है कि हमने एक सच्चे ईमानदार गवाह की गवाही को माना और मुसलमान हो गए। उन्होंने उसकी गवाही में शक किया और हक़ से इनकारी हो गए। नहीं तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि वह्य (प्रकाशना) उतरते हुए न हमने देखी और न उन्होंने।

इन मिसालों से यह बात बिलकुल साफ़ हो गई है कि आम तौर पर औसत दर्जे के इनसान अपनी ज़िन्दगी के मामलों में अक़ीदे के न इतने कमज़ोर होते हैं कि हर ख़बर की खोज-बीन और तहक़ीक़ किए बिना क़बूल कर लें और न इतने वहमी और शक्की होते हैं कि हर ख़बर की सेहत और हर रावी (उल्लेखकर्त्ता) के सच्चे होने में शक करें और हर मामले में राय क़ायम करने के लिए उस यक़ीनी इल्म का मुतालबा करें जो सिर्फ़ तजरिबे और मुशाहिदे (प्रत्यक्ष देखने) और मुतवातिर रिवायतों से हासिल होता है।

इन दोनों इन्तिहाओं के बीच सद्बुद्धि और मोतदिल फ़ितरत (सन्तुलित स्वभाव) रखनेवाले इनसानों का अमली तरीक़ा यह होता है कि वे ख़बरों और रिवायतों को तहक़ीक़ के इम्कानी ज़रिओं से काम लेकर जाँचते हैं और इस जाँच-पड़ताल में अगर उनके ग़लत होने का ग़ालिब गुमान (न कि यक़ीन) है तो उन्हें रद्द कर देते हैं और अगर उनके सही होने का ग़ालिब गुमान (न कि यक़ीन) हासिल हो जाता है तो उनको क़बूल करके उन्हीं के मुताबिक़ अमल करते हैं। तहक़ीक़ और जाँच-पड़ताल का मेयार भी सभी ख़बरों के लिए एक जैसा नहीं होता बल्कि उसका सख़्त और नर्म होना भी ख़बर की नौइयत और उस मामले की अहमियत पर निर्भर होता है जिससे उस ख़बर का ताल्लुक़ हो।

यह तो इस मसले की इल्मी हैसियत थी। अब अगर आप अक़्ली हैसियत से भी सोच-विचार करेंगे तो आपको मालूम होगा कि यही एतिदाल (सन्तुलन) का तरीक़ा ठीक-ठीक अक़्ल के मुताबिक़ है और इसके ख़िलाफ़ अक़ीदे की कमज़ोरी और वहमीपन दोनों अक़्ल के ख़िलाफ़ हैं। यह सही है कि अक़्ल के नज़दीक हर वाक़िए में शक करना मुमकिन है, यहाँ तक कि महसूस होनेवाली और आँखों देखी चीज़ों तक में भी शक किया जा सकता है, लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि हर काम जो किया जा सकता है उसका करना अक़्ल के नज़दीक ठीक और बेहतर भी हो। इसके अलावा अक़्ल हर ख़बर के बारे में सिर्फ़ यह हुक्म लगाती है कि इसमें सच्चे-झूठे होने का बराबर गुमान है, यानी सिर्फ़ ख़बर होने की हैसियत से वह सच और झूठ होने के बराबर इमकान रखती है और जब तक कोई माक़ूल (उचित) वजह किसी एक पहलू को तरजीह देने के लिए मौजूद न हो किसी ख़बर को न सच कहा जा सकता है और न झूठ। लेकिन कोई ख़बर हमको सिर्फ़ ख़बर होने की हैसियत से नहीं पहुँचती, बल्कि उसके साथ लाज़िमी तौर पर बहुत-सी ऐसी दलीलें भी होती हैं जिनसे सच होने या झूठ होने की तरफ़ पलड़ा ज़रूर झुकता है।

ख़ालिस शक का मक़ाम यानी जहाँ न तस्दीक़ हो और न झुठलाया जाए, एक ऐसा बारीक मक़ाम है कि इनसानी ज़ेहन कुछ पल भी इसपर नहीं ठहर

सकता। इसलिए हर ख़बर को सुनते ही ज़ेहन तुरन्त ऐसी वजह तलाश करने लगता है जिनसे मदद लेकर वह शक के मक़ाम से तस्दीक़ करने या झुठलाने की तरफ़ फिर जाए। फिर यह बात बिलकुल ज़ेहन के ठीक होने या मरीज़ होने पर निर्भर है कि वह इन दोनों पहलुओं में से किस पहलू को सही वजह के साथ तरजीह देता है या अक़्ल के ख़िलाफ़ वजह के साथ। किसी ख़बर का मुतवातिर न होना, या अकेली ख़बर होना, अक़्ली तौर पर इसके लिए हरगिज़ काफ़ी नहीं है कि अकेली इसी बुनियाद पर इसके ग़लत होने का हुक्म लगा दिया जाए। न यह बात किसी ख़बर को झूठ ठहराने के लिए काफ़ी और सही वजह हो सकती है कि वह बहुत ही पुराने ज़माने से ताल्लुक़ रखती है और हम तक बहुत-से वास्तों (माध्यमों) से पहुँची है, न कोई अक़्लवाला आदमी यह फ़र्ज़ कर सकता है कि हर ख़बर देनेवाला झूठा होता है और न दुनिया के सारे ख़बर देनेवाले आपस में एक राय होकर झूठी ख़बरें देने का फ़ैसला कर चुके हैं। इस तरह की सभी फ़र्ज़ की हुई चीज़ें जो झुठलानेवाली ज़ेहनियत से देखनेवालों के दिल-दिमाग़ पर छा जातीं हैं और जिनकी वजह से वे हर ख़बर को झुठलाने की तरफ़ झुक जाया करते हैं, बिलकुल ही अक़्ल के ख़िलाफ़ है और इसी तरह इसके बरख़िलाफ़ जिन फ़र्ज़ की हुई चीज़ों की वजह से हर ख़बर और मुख़बिर की तस्दीक़ की जाती है, वे भी अक़्ल के मुताबिक़ नहीं हैं। इन दोनों इन्तिहाओं (अतियों) के बीच सही रास्ता जो एक सच्ची फ़ितरतवाला ज़ेहन अपनाएगा वह यही है कि वह कुल मिलाकर सभी ख़बरों की न तस्दीक़ करेगा और न झुठलाएगा, बल्कि वह हर ख़बर को अलग-अलग लेकर उसके ख़ास हालात के लिहाज़ से तहक़ीक़ और जाँच-परख के एक ख़ास मेयार पर जाँचेगा, और जब इस तहक़ीक़ के ज़रिए से सच और झूठ के दोनों पहलुओं में से किसी एक पहलू की तरफ़ ग़ालिब गुमान हासिल हो जाएगा तो उसी पहलू का हुक्म लगा देगा।

अब हमें देखना चाहिए कि किसी ख़बर की तहक़ीक़ का सख़्त-से-सख़्त क़ाबिले-अमल मेयार क्या हो सकता है। फ़र्ज़ कीजिए ज़ैद नाम का एक आदमी अब से सौ बरस पहले गुज़रा है, जिसके बारे में अम्र एक रिवायत

आप तक पहुँचाता है। आपको तहक़ीक़ करना है कि ज़ैद के बारे में रिवायत ठीक है या नहीं? इस ग़रज़ के लिए आप निम्नलिखित तरीक़ों से जाइज़ा ले सकते हैं—

1. यह रिवायत अम्र तक किस तरीक़े से पहुँची? बीच में जो वास्ते (माध्यम) हैं उनका सिलसिला ज़ैद तक पहुँचता है या नहीं? बीच के रावियों से हर रावी ने जिस आदमी से रिवायत की है उससे वह मिला भी था या नहीं, हर रावी ने यह रिवयात किस उम्र और किस हालत में सुनी? रिवायत को उसने शब्द-शब्द उसी तरह नक़्ल किया या उसके मतलब को अपने शब्दों में बयान किया?

2. क्या यही रिवायत दूसरे तरीक़ों से भी नक़ल की गई है? अगर नक़ल की गई है तो सभी बयान एक जैसे हैं या अलग? और भिन्नता व मतभेद है तो किस हद तक? अगर खुला हुआ इख़्तिलाफ़ है तो मुख़तलिफ़ (विभिन्न) तरीक़ों में से कौन-सा रिवायत का तरीक़ा ज़्यादा भरोसा करने लायक़ है?

3. जिन लोगों के वास्ते से यह ख़बर पहुँची है वे खुद कैसे हैं? झूठे या बेईमान तो नहीं? इस रिवायत में उनकी कोई निजी या जमाअती ग़रज़ तो छिपी हुई नहीं, उनमें सही याद रखने और सही नक़ल करने की सलाहियत थी या नहीं?

4. ज़ैद की फ़ितरत (स्वभाव), उसका सीरत (जीवन-चरित्र), उसके ख़यालात और उसके माहौल के बारे में जो मशहूर और मुतवातिर रिवायतें और साबित शुदह मालूमात हमारे पास मौजूद हैं, यह रिवायत उनके ख़िलाफ़ तो नहीं है?

5. रिवायत किसी ग़ैर-मामूली और अनुमान से परे बातों के बारे में है या मामूली और अनुमान लगाने योग्य बात के बारे में? अगर पहली सूरत है तो क्या रिवायत के तरीक़े इतने ज़्यादा, मुसलसल और भरोसे के क़ाबिल हैं कि ऐसे मामले को तस्लीम किया जा सके? और अगर दूसरी सूरत है तो क्या रिवायत अपनी मौजूदा शक्ल में इस बात की सेहत का इत्मीनान करने

के लिए काफ़ी है?

यही पाँच पहलू हैं जिनसे किसी ख़बर की जाँच-पड़ताल की जा सकती है। इन सावालों के बारे में अगर तहक़ीक़ के साधन और उपाय हमारे पास मौजूद हों और उन साधनों से कोई ख़बर तहक़ीक़ के मेयार पर पूरी उतर जाए तो कोई वजह नहीं कि हम उसको झूठी ठहराएँ और अगर कोई ख़बर इस मेयार पर पूरी उतरे तो हमको हक़ है कि चाहे उसे झुठला दें या उसको रद्द कर दें। लेकिन अगर तहक़ीक़ के उपाय मौजूद होते हुए भी कोई आदमी अलग-अलग हर ख़बर को जाँचने और उसके बारे में राय क़ायम करने के बजाए सभी ख़बरों को मजमूअन (सामूहिक रूप से) इस बुनियाद पर रद्द कर दे या झूठी ठहरा दे कि उनमें कुछ जाली (बनावटी) ख़बरें मिली हुई हैं, या कुछ रावियों की कमज़ोरियाँ साबित हैं, या कुछ उस आदमी की अक़्ल में नहीं समातीं, तो इससे बढ़कर ग़ैर-माक़ूल रवैया और कोई नहीं हो सकता।

इस तमहीदी बयान (भूमिका) ने मामले को बिलकुल साफ़ कर दिया है। अगर कोई आदमी पैग़म्बराना हस्ती के बेहतरीन नमूने और पाक सुन्नत से कोई ताल्लुक़ रखना ही न चाहता हो, तो यह एक दूसरी बात है। लेकिन अगर वह आप (सल्ल॰) की तक़लीद ज़रूरी समझता है और उसे वाक़ई यह मालूम करने की ज़रूरत है कि नबी (सल्ल॰) ने अपनी तेईस साल की पैग़म्बराना ज़िन्दगी में किस तरह ज़िन्दगी बसर की, कौन-से काम किए? किन कामों से अपने-आपको बचाया? किन बातों को जाइज़ रखा? किन बातों से मना किया? तो यक़ीनन उसको हदीस के भंडार की तरफ़ ध्यान देना पड़ेगा। यहाँ वह देखेगा कि इस वक़्त भी दुनिया में चार-पाँच लाख आदमी मौजूद हैं जिनके पास हदीस की किताबें इमाम मालिक, इमाम मुहम्मद, इमाम शाफ़ई, इमाम अहमद-बिन-हम्बल, इमाम बुख़ारी और दूसरे हदीस के इमामों से सिलसिला-बसिलसिला पहुँची हैं। इसलिए इस बात में किसी शक की गुंजाइश नहीं कि ये किताबें उन्हीं बुज़ुर्गों की लिखी हुई हैं। फिर इसमें भी शक नहीं किया जा सकता कि उन बुज़ुर्गों ने हर हदीस की जो सनद (प्रमाण) नबी (सल्ल॰) या सहाबा (रज़ि॰) तक पहुँचाई है, वह कम-से-कम

उनकी तहक़ीक़ और खोज-बीन के लिहाज़ से बिलकुल ठीक थी। इसी लिए इन किताबों के ज़रिए से हदीस का वह इल्म (ज्ञान) क़रीब-क़रीब यक़ीनी तौर पर हम तक पहुँच गया है, जो पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी सदी के हदीस के इमामों के पास था। इसके अलावा हदीसों के बारे में वे सारी मालूमात और जानकारियाँ भी भरोसा के क़ाबिल किताबों के ज़रिए से हम तक पहुँच गई हैं जिनसे काम लेकर उन हदीस के आलिमों ने हदीसें और इनके उल्लेखकर्ताओं (रावियों) के हालात की जाँच-पड़ताल की थी। ऊपर हमने एक ख़बर की तहक़ीक़ के लिए जो तनक़ीही (समीक्षात्मक) सवाल क़ायम किए हैं उनमें से हर सवाल का तफ़सीली जवाब क़रीब-क़रीब हदीस के बारे में हमको उन किताबों में मिल जाता है। फिर हदीस के आलिमों के बीच हदीसों और उनकी तहक़ीक़ के बारे में रायों में जो इख़्तिलाफ़ हैं वे सारी दलीलों और वजहों के साथ महफ़ूज़ हैं। इस वसीअ (व्यापक), विस्तृत और ज़्यादा-से-ज़्यादा इमकानी (संभावित) भरोसेमन्द भंडार के मौजूद होते हुए कोई अक़्लवाला इनसान यह दावा नहीं कर सकता कि अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) की ज़िन्दगी का कोई वाक़िआ और आप (सल्ल॰) का इरशाद (कथन) आज दुनिया में सेहत के साथ मौजूद नहीं है। ऐसा दावा करनेवाले को सबसे पहले यह साबित करना पड़ेगा कि नबी (सल्ल॰) के ज़माने से लेकर हमारे ज़माने तक जो लाखों से भी अधिक और करोड़ों तक पहुँचे हुए मुसलमान नबी (सल्ल॰) की हदीसों को नक़ल करने और सुनने-सुनाने में मशग़ूल लगे रहे हैं वे सब-के-सब या उनमें से ज़्यादातर झूठे थे और उन्होंने एक साथ मिलकर यह तय कर लिया था कि ख़ुदा के पैग़म्बर (सल्ल॰) पर तोहमत (आरोप) गढ़ने और इस तरीक़े से मुसलमानों को गुमराह करने और इस्लाम को तबाह-बरबाद करने ही में अपनी सारी उम्र बसर करेंगे।

अब अगर कोई हदीस का इनकारी इस बात का सुबूत (प्रमाण) रखता है तो वह उसको पेश करे। हम उसे यक़ीन दिलाते हैं कि सारी दुनिया के तहक़ीक़ करनेवालों और खोज-बीन करनेवालों के कारनामे उसकी इस अनोखी तहक़ीक़ के सामने दब जाएँगे। लेकिन अगर उसके पास बदगुमानी और झूठे आरोपों और कुल (पूर्ण) पर कुछ (अंश) का हुक्म लगाने के

मुग़ालताअंगेज़ (भ्रमपूर्ण) और अक़्ल के ख़िलाफ़ और बेईमानी के तरीक़ों के सिवा और कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसको वह अपने दावे के सुबूत में पेश कर सकता हो तो उसे कम-से-कम यह उम्मीद तो न रखनी चाहिए कि जिन लोगों की अक़्ल बिलकुल सही है और जो फ़ितरते-सलीमा पर हैं, वे भी उसके दावे को तस्लीम करके हदीस की सारी ख़बरों को मजमूई हैसियत (सामूहिक रूप) से ग़लत और रद्द कर देने के क़ाबिल ठहरा देंगे।

हमने कभी इस ख़याल का समर्थन नहीं किया कि हर आदमी को हदीस के इमामों की अंधी तक़लीद (अनुसरण) करनी चाहिए या उनको ग़लती से पाक-साफ़ और दूर समझना चाहिए। न कभी हमने यह दावा किया है कि हर किताब में जो रिवायत नबी (सल्ल॰) के कथन से शुरू हो उसको आँख बन्द करके अल्लाह के पैग़म्बर (सल्ल॰) की हदीस मान लेना चाहिए। इसके बरख़िलाफ़ हमारे नज़दीक किसी हदीस को नबी (सल्ल॰) की हदीस ठहरा देने की ज़िम्मेदारी एक बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है जिसको उठाने की जुर्रत काफ़ी खोज-बीन के बग़ैर हरगिज़ नहीं करनी चाहिए और तहक़ीक़ व इजतिहाद के बारे में भी हमारा तरीक़ा यह है कि इसका दरवाज़ा हर ज़माने में खुला हुआ है और किसी ख़ास ज़माने के लिए मख़सूस नहीं है। लेकिन इसके मानी ये नहीं हैं कि जिन लोगों ने हदीस के फ़न (कला) की तहक़ीक़ और उसके बाक़ायदा मुताले (नियमित अध्ययन) और खोज-बीन में पूरा एक महीना भी नहीं लगाया है वे उन बुज़ुर्गों के कारनामों पर तनक़ीद (आलोचना) करें जिन्होंने पूरी-पूरी उम्रें इस फ़न की ख़िदमत में बसर कर दी हैं। सिर्फ़ एक हदीस के फ़न पर ही निर्भर नहीं है, दुनिया का कोई इल्मो-फ़न भी आपको ऐसा न मिलेगा जिसमें नौसिखयों और अनाड़ियों को रिसर्च और माहिराना राय के इज़हार करने और खोजबीन व तहक़ीक़ की अथक कोशिश करनेवाले की तरह कलाम करने का हक़ दिया जाता हो। यह हक़ इनसान को सिर्फ़ उस वक़्त हासिल होता है जब वह इस फ़न की बुनियादी बातों और उसूल पर पूरी तरह हावी (प्रभावी) हो चुका हो और जितनी जानकारी का भंडार इस फ़न के बारे में मौजूद हो वह सब उसकी नज़र में हो। बाक़ी रहा वह आदमी जो अभी इस दर्जे पर नहीं पहुँचा है तो उसके

लिए बेहतरी इसी में है कि वह इस फ़न के इमामों की तहक़ीक़ों और खोज-बीन और उनकी रायों (मतों) की पैरवी करे। सारे दुनियावी इल्मों की तरह मज़हबी इल्मों (ज्ञान) में भी यही तरीक़ा बेहतर और सबसे सही है। इसको छोड़कर जो लोग बग़ैर इल्म के इजतिहाद (तहक़ीक़ और खोज-बीन) का झंडा बुलन्द करते हैं वे दुनिया और दीन (धर्म) दोनों में अपने लिए रुस्वाई और शर्मिन्दगी का सामान करते हैं।

(तर्जुमानुल-क़ुरआन, सफ़र 1353 हिजरी/जून 1934 ई॰)

